वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४५ अंक ८ अगस्त २००७
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)
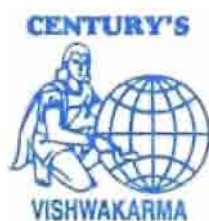
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ८

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः
कदा यास्यामोऽन्तर्गतबहुलबाष्पाकुलदशाम् ।।८५।।

अन्वय – शान्त-ध्वनिषु रजनीषु द्यु-सरितः क्व-अपि स्फुरत्-स्फार-ज्योत्स्ना-धवलित-तले पुलिने सुख-आसीनाः भव-आभोग-उद्विग्नाः शिव शिव शिव इति उच्च-वचसः अन्तः-गत-बहुल-बाष्प-आकुल-दशां कदा यास्यामः ।

अर्थ – अहा ! कब हम, ऐसी निस्तब्ध रातों में जबकि चित्त में विक्षेप उत्पन्न करनेवाले सारे कोलाहल शान्त हो गये हों, चारों ओर फैली हुई चाँदनी से आलोकित गंगा के तट पर सुखपूर्वक बैठकर, संसार के सुख-दु:ख रूपी भोगों से विरक्त होकर उच्च स्वर में बारम्बार 'शिव' 'शिव' 'शिव' कहकर पुकारते हुए, परम आनन्द के फलस्वरूप अपने अन्तर से उमड़ती हुई अश्रुधारा के साथ व्याकुल दशा को प्राप्त होंगे !

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम् ।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा-
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः ।।८६।।

अन्वय – सर्वस्वे वितीर्णे तरुण-करुणा-पूर्ण-हृदयाः वयं संसारे विगुण-परिणामां विधि-गतिं स्मरन्तः हर-चरण-चिन्ता-एक-शरणाः पुण्य-अरण्ये परिणत-शरत्-चन्द्र-किरणाः त्रियामाः नेष्यामः ।

अर्थ – अहा ! कब हम, अपने सर्वस्व को (दीन-दुखियों के बीच) वितरण करके, कोमल तथा करुणापूर्ण हृदय के साथ, संसार में दु:खद परिणाम प्रदान करनेवाली भाग्य की गति को स्मरण रखते हुए, शिव के चरणों के ध्यान को अपना एकमात्र आश्रय समझते हुए, पवित्र वन में शरतकालीन चाँदनी की शोभा के बीच अपनी सारी रातें बितायेंगे !

– भर्तृहरि

गुरु-प्रार्थना

– १ –

गुरुदेव, आज हम पर, करुणा-कटाक्ष कीजै,
आये हैं आस लेकर, हमको उबार लीजै ।।

अज्ञान पंक में हम, डूबे हुए हैं कब से,
सन्मार्ग ढूँढ़ते हैं, आँखें खुली है जब से;
उस पार हो सकें हम, वह ज्ञान-शक्ति दीजै ।।

संसार के तपन से, जल-भुन चुके हैं हम तो,
अब आये हैं शरण में, ले पुष्प रूप मन को,
अपना सुहृद बनाकर, करुणा की वृष्टि कीजै ।।

विषयों की कामनाएँ हमको नचा रही हैं,
अपनी ही पूर्व कृतियाँ, अब खाये जा रही हैं;
हो आपकी कृपा तो, मम कर्मपाश छीजै ।।

अच्छी नहीं है लगती, दुनिया की खाकसारी,
उस पार अब लगा दो, नैया प्रभो हमारी,
सेवक 'विदेह' तब तो, अमृत-सुधा में भीजै ।।

– २ –

(राग-बहार, ताल-कहरवा)

गुरु की कृपा मुक्ति का द्वार,
काम-लोभ के अँधियारे में,
वे ही करते पथ-उजियार ।।

प्रभु ने ही गुरु मूरत धारी,
हरने मोह-तमस अति भारी,
कृपा-नाव में आश्रय देकर,
भवसागर से तारनहार ।।

गुरु ही मातु-पिता सुख-सम्पद,
ध्यान करो नित उनके श्रीपद,
वे ही व्याप रहे अग-जग में,
वे ही जीवन के आधार ।।

उनकी शरण गहो हे प्राणी,
अब छोड़ो जड़ता-नादानी,
निशिदिन चिन्तन करो उन्हीं का,
जो चाहो 'विदेह' उद्धार ।।

सामाजिक बदलाव में धर्म की भूमिका

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – भारत के सामाजिक परिवर्तन में क्या धर्म की भूमिका ही प्रमुख रही है?

उत्तर – समाज में विप्लव पैदा करनेवाले ये परिवर्तन भारत में भी बारम्बार हुआ करते हैं, परन्तु धर्म के नाम पर, इसलिये कि यह देश धर्मप्राण है; धर्म ही इसकी भाषा और सारे उद्यमों का चिह्न है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, शंकर, रामानुज तथा चैतन्य के पन्थ, और कबीर, नानक, ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज आदि सभी सम्प्रदायों में धर्म की फेनमय, वज्रवत् गरजने वाली तरंगें सामने हैं और सामाजिक अभावों की पूर्ति उनके पीछे है।[११५]

एक राष्ट्र के विभिन्न कबीले समान देवताओं की उपासना करते हैं, जिनका एक सामान्य जाति-नाम होता है, जैसे बेबिलोनवासियों के देवता थे 'बाल' और हिब्रू लोगों के देवता थे 'मोलोक'।

बेबिलोनिया में सभी 'बाल' देवताओं को एक 'बाल-मेरोदक' नामक देवता में विलय करने का प्रयत्न हुआ। इस्राइल वालों (यहूदियों) ने सभी 'मोलोक' देवताओं को एक 'मोलोक यवह' या 'याहु' में विलय करने का प्रयत्न किया।

बेबिलोनवासियों का विनाश पारसियों ने किया और हिब्रू (यहूदी) लोगों को बेबिलोन की पौराणिक परम्परा को अपनाने तथा उसे अपनी जरूरतों के अनुकूल ढालनेवाले एक कठोर एकेश्वरवादी धर्म की स्थापना करने में सफलता मिली।

निरंकुश राजतंत्र की भाँति एकेश्वरवाद भी आदेश-पालन में तेज और केन्द्रीकरण में सहायक शक्ति होता है। पर इससे आगे उसका विकास नहीं होता और उसकी सबसे बड़ी बुराई है – उसकी क्रूरता और अत्याचार। उसके प्रभावक्षेत्र में आनेवाली सभी जातियाँ कुछ वर्षों के प्रज्वलन्त जीवन के उपरान्त बहुत शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं।

भारत में भी वही समस्या उठी थी और उसका समाधान मिला – **एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति** – 'सत्य एक है, उसी का ज्ञानीगण विविध प्रकार निरूपण करते हैं।' यही उसके सब कुछ का मूल स्वर और बाद में उनके भवन की नीव बना। इसका फल है वेदान्तियों की अद्भुत सहिष्णुता।[११६]

क्या भारतवर्ष में कभी सुधारकों की कमी थी? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर और दादू कौन थे? ये सभी बड़े-बड़े धर्माचार्य, जिनका अति उज्जवल नक्षत्रों की भाँति एक-एककर भारत-गगन में उदय और फिर अस्त हुआ, ये कौन थे? क्या रामानुज के हृदय में निम्न जातियों के लिये प्रेम नहीं था? क्या उन्होंने सारे जीवन चाण्डाल तक को अपने सम्प्रदाय में लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने की चेष्टा नहीं की? क्या नानक ने मुसलमान और हिन्दू दोनों को समान भाव से शिक्षा देकर समाज में एक नयी अवस्था लाने का प्रयत्न नहीं किया।[११७]

शंकराचार्य आदि शक्तिशाली युग-प्रवर्तक ही बड़े-बड़े वर्ण-निर्माता थे। उन लोगों ने इन अद्भुत बातों का आविष्कार किया था, जिन्हें मैं तुमसे नहीं कह सकता और सम्भव है कि तुममें से कोई-कोई उससे अपना रोष प्रकट करे। परन्तु अपने भ्रमण और अनुभव से मैंने उनके सिद्धान्त ढूँढ़ निकाले और इससे मुझे अद्भुत परिणाम प्राप्त हुए। कभी-कभी उन्होंने दल-के-दल बलूचियों को लेकर क्षण भर में उन्हें क्षत्रीय बना डाला, दल-के-दल धीवरों को लेकर क्षण भर में ब्राह्मण बना दिया।[११८]

भारत के इतिहास में प्राय: देखने में आता है कि प्रत्येक धार्मिक उथल-पुथल के बाद सदा ही एक राजनीतिक एकता स्थापित हो जाती है, जो न्यूनाधिक रूप में समस्त देश में व्याप्त हो जाती है।[११९]

प्रश्न – वैश्य शोषण के स्वरूप का वर्णन किया जा चुका है। ब्रिटिशकालीन भारत में यह कैसा था?

उत्तर – आधुनिक भारत में अँग्रेजी शासन का केवल एक ही सांत्वनादायक पक्ष है कि अनजाने ही उसने एक बार फिर भारत को विश्व के रंगमंच पर लाकर खड़ा कर दिया है, उसने बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क को भारत पर लाद दिया है। अगर यह जनता के मंगल के लिये किया गया होता, तो जिस तरह परिस्थितियों ने जापान की सहायता की, भारत के लिये भी इसका परिणाम और भी अद्भुत होता। परन्तु जब मुख्य ध्येय खून चूसना हो, तो कोई हित नहीं हो सकता।

कई सौ आधुनिक, अर्धशिक्षित व राष्ट्रीय चेतनाहीन व्यक्ति ही वर्तमान अँग्रेजी भारत का दिखावा हैं; और कुछ नहीं। ...

भारत को जीतने के लिये अंग्रेजों के संघर्ष के दौरान सदियों की अराजकता, अंग्रेजों द्वारा १८५७-५८ में किये गये भयावह जनवधों और इससे भी अधिक भयावह अकालों, जो अँग्रेजी शासन के अनिवार्य परिणाम बन गये हैं (देशी राज्यों में कभी अकाल नहीं पड़ता) और उनमें लाखों प्राणियों की मृत्यु के बावजूद भी जनसंख्या में काफी वृद्धि होती रही है; तब भी जनसंख्या उतनी नहीं है जब देश पूर्णत: स्वतंत्र था – अर्थात् मुस्लिम शासन के पूर्व। भारतीय श्रम एवं उत्पादन से भारत की वर्तमान आबादी की पाँच गुनी आबादी का भी आसानी से निर्वाह हो सकता है, यदि भारतीयों की सारी वस्तुयें उनसे छीन न ली जाएँ।

यह आज की स्थिति है – शिक्षा को भी अब अधिक नहीं फैलने दिया जायेगा; प्रेस की स्वतंत्रता का गला पहले ही घोंट दिया गया है, (निरस्त्र तो हम पहले से ही कर दिये गये हैं) और स्व-शासन का जो थोड़ा अवसर हमें पहले दिया गया था, शीघ्रता से छीना जा रहा है। हम इन्तजार कर रहे हैं कि अब आगे क्या होगा ! निर्दोष आलोचना में लिखे गये कुछ शब्दों के लिये लोगों को कालापानी की सजा दी जा रही है, अन्य लोग बिना कोई मुकदमा चलाये जेलों में ठूँसे जा रहे हैं और किसी को कुछ पता नहीं कि कब उनका सर धड़ से अलग कर दिया जायेगा।

कुछ वर्षों से भारत में आतंकपूर्ण शासन का दौर है। अँग्रेज सिपाही हमारे देशवासियों का खून कर रहे हैं, हमारी बहनों को अपमानित कर रहे हैं – हमारे खर्च से ही यात्रा का किराया और पेंशन देकर स्वदेश भेजे जाने के लिये ! हम लोग घोर अंधकार में हैं – ईश्वर कहाँ है? ऐसी स्थिति में मेरे लिये आशावादी हो पाना क्या सम्भव है? मान लो तुम इस पत्र को केवल प्रकाशित भर कर दो – तो भारत में अभी हाल ही में पारित हुए उस कानून का सहारा लेकर अँग्रेज सरकार मुझे यहाँ (अमेरिका) से भारत घसीट ले जायेगी और बिना किसी कानूनी कार्रवाई के मुझे मार डालेगी। और मुझे यह मालूम है कि तुम्हारी सभी ईसाई सरकारें इस पर खुशियाँ मनायेंगी, क्योंकि हम गैरईसाई हैं। क्या मैं भी सोने जा सकता हूँ और आशावादी हो सकता हूँ? नीरो सबसे बड़ा आशावादी मनुष्य था। समाचार के रूप में भी वे इन भीषण बातों को प्रकाशित करना नहीं चाहते, यदि कुछ संवाद देना आवश्यक भी हो तो 'रायटर' के संवाददाता ठीक उल्टा झूठा समाचार गढ़ देते हैं। एक ईसाई के लिये गैरईसाई की हत्या भी वैधानिक मनोरंजन है। तुम्हारे मिशनरी ईश्वर का उपदेश करने जाते हैं, लेकिन अंग्रेजों के भय से एक शब्द भी सत्य कह पाने का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि अंग्रेज उन्हें दूसरे दिन ही लात मारकर निकाल बाहर कर देंगे।

शिक्षा-संचालन के लिये पूर्ववर्ती सरकारों द्वारा निर्धारित सम्पत्ति तथा जमीन को गले के नीचे उतार लिया गया है और वर्तमान सरकार शिक्षा पर रूस से भी कम व्यय करती है। और शिक्षा भी कैसी? मौलिकता की किंचित् अभिव्यक्ति भी दबा दी जाती है। ...

जहाँ तक धार्मिक सम्प्रदायों का प्रश्न है – ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज तथा अन्य व्यर्थ की खिचड़ी पकाते हैं। वे मात्र अंग्रेज मालिकों के प्रति कृतज्ञता की ध्वनियाँ हैं, जिससे कि वे हमें साँस लेने की आज्ञा दे सकें। हम लोगों ने एक नये भारत का श्रीगणेश किया है – एक विकास की प्रतीक्षा में कि आगे क्या घटित होता है। हम नये विचारों में आस्था रखते हैं, राष्ट्र उनकी माँग करता है और जो हमारे लिये सत्य हैं। ब्राह्मसमाजी के लिये सत्य की यह कसौटी है, 'जिसका हमारे मालिक अनुमोदन करें', पर हमारे लिये वह सत्य है, जो भारतीय बुद्धि एवं अनुभूति मण्डित है। संघर्ष आरम्भ हो गया है – हमारे और ब्राह्मसमाज के बीच नहीं, क्योंकि वे पहले से ही निष्प्राण हो गये हैं, बल्कि इससे भी अधिक एक कठिन, गम्भीर तथा भीषण संघर्ष।[१२०]

प्रश्न – शोषण कैसे विकास में बाधक है?

उत्तर – स्वाधीनता के बिना किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में स्वाधीनता दी थी और इसीलिये हमें एक आश्चर्यजनक धर्म मिला है, पर उन्होंने समाज के पैर बड़ी-बड़ी जंजीरों से जकड़ दिये और इसके फलस्वरूप हमारा समाज, एक शब्द में भयंकर और पैशाचिक हो गया है। पाश्चात्य देशों में समाज को सदैव स्वधीनता मिलती रही, इसलिये उनके समाज को देखो। दूसरी तरफ उनके धर्म को भी देखो।

उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता।[१२१]

तुम्हारे पूर्वजों ने आत्मा को स्वाधीनता दी थी, इसीलिये धर्म का उत्तरोत्तर विकास हुआ; पर देह को उन्होंने सैकड़ों बन्धनों के फेर में डाल दिया, बस इसी से समाज का विकास रुक गया। पाश्चात्य देशों का हाल ठीक इसके उलटा है। वहाँ समाज में खूब स्वाधीनता है, धर्म में कुछ नहीं। इसके फलस्वरूप वहाँ धर्म बड़ा ही अधूरा रह गया, परन्तु समाज ने भारी उन्नति कर ली है। अब प्राच्य समाज के पैरों से जंजीरें धीरे-धीरे खुल रही हैं, उधर पाश्चात्य धर्म के लिये भी वैसा ही हो रहा है।[१२२]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची – ११५. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ९, पृ. २१५; **११६.** वही, खण्ड ९, पृ. २९५; **११७.** वही, खण्ड ५, पृ. ११४; **११८.** वही, खण्ड ५, पृ. १८९; **११९.** खण्ड १०, पृ. १२४; **१२०.** वही, खण्ड ७, पृ. ३८१-८३; **१२१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३३; **१२२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३१७

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

महर्षि वाल्मीकि के द्वारा भगवान राम का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, उसमें सत्यनिष्ठा, गुणवत्ता और धर्म की प्रधानता है। गोस्वामीजी कहते हैं मेरे श्रीराम तो महर्षि वाल्मीकि के कल्प के राम नहीं हैं। वे कहते हैं –

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।
चारु चरित नाना बिधि करहीं।।

प्रभु विभिन्न कल्पों में अवतार लेते हैं और जिस कल्प में जिस भक्त की भावना से भगवान अवतार लेते हैं, उसमें उसी प्रकार की लीला सम्पन्न करते हैं। बड़ा विस्तृत प्रसंग है। नारदजी ने क्षीरशायी विष्णु को शाप दिया और उन्होंने राम के रूप में अवतार लिया। उसके बाद जय और विजय को सनक आदि ऋषियों ने शाप दिया। वैकुण्ठ के भगवान श्रीमन्नारायण श्रीराम के रूप में जन्म लेते हैं। मनु के प्रसंग में, वे जिन प्रभु से प्रार्थना करते हैं, वे क्षीरशायी विष्णु या वैकुण्ठ के श्रीमन्नारायण नहीं, अपितु अगुण ब्रह्म ही सगुण होते हैं। इसलिये वहाँ जब मनु के सामने भगवान प्रगट हुए, तो गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि भगवान वैकुण्ठ से आये हैं या क्षीरसागर से। उन्होंने कहा कि वैकुण्ठवासी तो पहले ही आ चुके थे। क्षीरसागर के निवासी भी उनको दर्शन दे चुके थे। – तो ये कौन हैं? गोस्वामीजी बोले –

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना।।

जो सर्वव्यापी अगुण ब्रह्म है, वही सगुण हो रहा है, मनु के माध्यम से हो रहा है। यह स्वाभाविक है कि हर कल्प के राम में भिन्नता हो। क्षीरशायी विष्णु के रूप में जो आते हैं, वे भी भगवान हैं, पूज्य हैं। जो वैकुण्ठ से आते हैं, वे भी भगवान ही हैं। 'मानस' में तो कहा गया कि यदि कोई विवाद करें कि ये राम क्षीरसागर-वाले हैं या वैकुण्ठ-वाले, इनमें से कौन छोटा है और कौन बड़ा, तो इसमें विवाद की कोई जरूरत नहीं। बात इतनी-सी है कि जिसके मन में जैसी भावना है, उसके लिये भगवान उसी रूप में प्रगट होते हैं –

जेहि के ह्रदय भगति जस प्रीती।
प्रभु तहँ प्रगट सदा यह रीती।।

कोई कहता है कि श्रीराम भगवान श्रीनारायण हैं, तो बिल्कुल ठीक है, वह उसकी भावना है, उसके लिये वही ठीक है। कोई कहता है वे क्षीरशायी विष्णु हैं, तो वह भी बिल्कुल ठीक है। पर साथ ही वे कहते हैं कि उससे भिन्न भावना भी हो सकती है।

बिधि हरि हर तप देखि अपारा
मनु समीप आये बहु बारा।।
माँगहु बर बहु भाँति लुभाये।
परम धीर नहिं चलहिं चलाये।।

भगवान के नारायण-रूप से या क्षीरशायी-रूप से मनु के भाव की तृप्ति नहीं होती। वे कहते हैं कि मुझे तो उस अखण्ड, अनन्त, अनादि ब्रह्म का दर्शन चाहिये –

अगुन अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिंतहिं परमारथ-बादी।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानन्द निरुपाधि अनूपा।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीला तनु गहई।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा।
तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।। १/१४३/४-८

और जब आकाशवाणी के द्वारा प्रश्न हुआ, तो बोले – वे जो मुनियों के प्रिय हैं, शंकरजी को प्रिय हैं, भुशुण्डिजी के हृदय-मानस में जो हंस के रूप में निवास करते हैं –

जो सरूप बस सिव मन माहीं।
जेहिं कारन मुनि जतन कराहीं।।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा।

किस ईश्वर को चाहते हो – सगुण या अगुण? बोले – वही अगुण है, वही सगुण है –

सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।। १/१४५/३-४

वह अगुण ब्रह्म भक्तों की भावना-पूर्ति के लिये सगुण रूप में अवतरित होता है –

जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहि जैसे।।

कई सज्जन ऐसा भ्रम पाले रहते हैं कि वाल्मीकिजी ने ही सच-सच लिखा और गोस्वामीजी ने बनाकर लिख दिया। तो क्या वे असत्यवादी थे? गोस्वामीजी बोले – प्रभु बार-बार, प्रत्येक कल्प में अवतरित होते हैं और मुनियों ने जब जहाँ

जैसे अपनी भावना के अनुरूप श्रीराम को पाया, उसके अनुसार उनका वर्णन किया –

कथा अलौकिक सुनहि जे ग्यानी ।
नहि आचरच करहिं अस जानी ।।
राम कथा कै मिति जग नाही ।
अस प्रतीति जिनके मन माही ।।
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं ।
चारु चरित नाना बिधि करहीं ।।
तब तब कथा मुनिन्ह सब गाई ।
परम पुनीत प्रबंध बनाई ।। ४/८/२

महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित श्रीराम-परशुराम-संवाद में श्रीराम को चिन्ता है कि मैंने धनुष पर बाण चढ़ा दिया है, तो बाण तो चलेगा ही, वह व्यर्थ नहीं जा सकता। पर राम-चरित-मानस में श्रीराम को ऐसी कोई चिन्ता दिखाई नहीं देती। जब वे बालि पर बाण का प्रहार करते हैं और वह गिर जाता है, तो भगवान ने जहाँ से बालि पर प्रहार किया था, वहाँ से चलकर बालि के पास आते हैं और उसके सामने खड़े हो जाते हैं। बालि गिरकर पड़ा हुआ है। उसने आँख खोलकर देखा – भगवान के धनुष पर बाण चढ़ा हुआ है –

स्याम गात सिर जटा बनायें ।
अनुज सहित सर चाप चढ़ायें ।।

एक बाण चला चुके हैं, दूसरा बाण धनुष पर चढ़ा हुआ है और भगवान बालि के सामने खड़े हैं। पर आगे चलकर भगवान ने बालि से यह नहीं पूछा कि यह जो दूसरा बाण धनुष पर चढ़ चुका है, इसका मैं क्या करूँ? पहले ही कह दिया था कि बालि को एक ही बाण से मारूँगा –

सुन सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।। ४/६

मारने के बाद जब वे बालि के सामने आये, तो उसका अभिमान नष्ट हो गया। पहले उसने वाणी की चतुराई से प्रभु को हराना चाहा, पर जब उसमें सफल नहीं हुआ, तो शरणागति की विनम्र भाषा में बोला – प्रभो, क्या मैं अब भी पापी हूँ? आपके दर्शन के बाद क्या मेरे पाप बचे हैं –

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ।।

एक ओर श्रीराम की उस प्रतिज्ञा का सत्य है और दूसरी ओर वे बालि के सिर पर हाथ रखकर कहते हैं – मैं चाहता हूँ कि तुम जीवित रहो, तुम्हारा प्राण बचा रहे –

अचल करौं तनु राखहु प्राना ।

अब कहाँ गई भगवान की प्रतिज्ञा और वचन का सत्य? यदि कह चुके हैं, तो प्राण लेना ही होगा, अन्यथा वचन का सत्य चला जायेगा। श्रीराम जिसका वध करने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसी से जीवित रहने का अनुरोध कर रहे हैं। इसका क्या अर्थ है? भगवान का अवतार अपनी महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिये नहीं हुआ है। बालि में अहं-भाव था, भगवान ने उस पर प्रहार किया। बालि जब अभिमान से मुक्त हो गया, तब भगवान को यह चिन्ता नहीं है कि मेरे बाण का क्या होगा? यदि किसी को फोड़ा हो जाय, वह डॉक्टर के पास जाय और डॉक्टर कहे कि मैं कल आपरेशन करूँगा। संयोग से फोड़ा पहले ही फूट जाय और रोगी डॉक्टर के पास जाकर इस बात की सूचना दे। पर डॉक्टर कहे कि भाई, फोड़ा तो फूट गया, पर मैंने जो कह दिया है कि कल आपरेशन करूँगा, तो सत्य की रक्षा के लिये मुझे आपरेशन करना ही पड़ेगा। जो अपने सत्य की रक्षा के लिये आपका हाथ काटने को तैयार हो, क्या आप ऐसे महान् सत्यवादी डॉक्टर पर प्रसन्न होंगे? क्या यही सत्यवादिता है?

इसी में श्रीराम की महिमा और विलक्षणता है, जो समस्त अवतारों में और भगवान राम के भी अन्य कल्पों के अवतारों में उससे भिन्न रूप में है। यहाँ भगवान बालि के साथ बड़े प्रेम से बातें करते हैं और उससे जीवित रहने का अनुरोध करते हैं, परन्तु बालि पूरा बदल चुका है, समझ चुका है कि शरीर त्याग का ऐसा दुर्लभ तथा दिव्य अवसर खोना नहीं है। तब भगवान ने उसे अपने धाम भेज दिया –

राम बालि निज धाम पठावा ।। ४/११/१

दो भाइयों के बीच यदि बँटवारे का झगड़ा हो। तो योग्य पंच वह है, जो दोनों के बीच ठीक-ठीक बँटवारा कर दे। पर भगवान जैसा बँटवारा करनेवाला पंच कहाँ मिलेगा? पहले झगड़ा था कि किष्किंधा का राज्य किसका है – बालि का या सुग्रीव का? दोनों दावेदार थे। बालि पहले था, सुग्रीव भी सिंहासन पर बैठ चुके थे। परन्तु श्रीराम तो अलग प्रकार के पंच है, उनका फैसला तो दुनिया से निराला है, बोले – झगड़ा मिटाने का सरल उपाय यह है कि किष्किंधा का राज्य मैं सुग्रीव को देता हूँ। लगा कि सुग्रीव के बड़े पक्षपाती हैं। फिर जब वे कहते हैं कि मैं अपना धाम बालि को देता हूँ, तो लगता है कि क्या बढ़िया बँटवारा है। क्या कोई ऐसा भी पंच मिलेगा, जो कहे कि बँटवारे में एक भाई इस पूरे घर को ले ले और दूसरे भाई को मैं अपना घर दे देता हूँ। यही श्रीराम का शील है। उनके लिये सत्य वाणीगत नहीं है। सुग्रीव जब चार महीने मिलने नहीं आये, तो भी ऐसा ही हुआ। उन्होंने कहा था – जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था उसी से मैं कल उस मूर्ख सुग्रीव का वध करूँगा –

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी ।
पावा राज कोस पुर नारी ।
जेहिं सायक मारा मैं बाली ।
तेहिं सर हतौं मूढ कहँ काली ।। ४/१७/४-५

पर वह कल कभी आया ही नहीं और उन्होंने सुग्रीव को मारा भी नहीं। अब श्रीराम सत्यवादी हैं या असत्यवादी?

मानो सत्य से ऊपर – श्रीराम के चरित्र का जो सत्य है, वह प्रगट हो गया। लक्ष्मणजी चिन्तित हो गये – प्रभु तो कभी इतने क्रोध में आते नहीं थे और आज सुग्रीव को मारने तक के लिये प्रस्तुत हो गये हैं! क्यों न यह कार्य मैं ही कर डालूँ! मेरे द्वारा होगा तो लोग जानते ही हैं कि लक्ष्मण क्रोधी हैं। लक्ष्मणजी बोले – आप क्यों कष्ट करेंगे और कल की क्या बात, मैं आज ही जाकर सुग्रीव को मार देता हूँ। लक्ष्मणजी ने धनुष भी चढ़ा लिया, बाण भी चढ़ा लिया –

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।
धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ।। ४/१७/८

पहले लगा कि राम बड़े सत्यवादी हैं, पर लक्ष्मणजी के आने पर वे हँसने लगे। यही श्रीराम का शील है। भगवान तो करुणा की सीमा हैं। कहने लगे – लक्ष्मण, संसार के लोग किसी व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उसे कुछ देते हैं और रुष्ट होकर उसे छीन लेते हैं। यदि मैं भी वहीं करूँ, तो संसार के व्यक्ति में और मुझमें क्या अन्तर रह जायेगा? सुग्रीव तो मेरा मित्र है, सखा है, मेरा वैसा कहने का उद्देश्य दूसरा था। भय के कारण ही वह मेरा भक्त बना था, शरण में आया था। बालि के मर जाने से उसका भय मिट गया और वह मुझे भूल गया। मारने का अर्थ इतना ही है कि जाकर जरा उसे डरा दो। लक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये। शंकरजी ने उमा से कहा था – श्रीराम को कभी क्रोध नहीं आ सकता –

जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा।
ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा ।।
जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी।
जिन्ह रघुवीर चरन रति मानी ।। ४/१७/६-७

यह चरित्र कौन जानता है? ज्ञानी नहीं जानता। जो ज्ञानी के साथ भक्त होगा, वही प्रभु के इस चरित्र को समझेगा। अब पता चला कि शील की ही विजय होती है। सत्य से ऊपर शील है। आप कहते हैं – डराने की आवश्यकता है। पर लक्ष्मणजी डराने जा रहे हैं, तो भी चिन्तित हो गये। बोले – लक्ष्मण, तुम यह मत भूल जाना कि वह जितना डरपोक है, उतना ही भगोड़ा भी है। ऐसा मत डरा देना कि कहीं दूर भाग जाय। ऐसा डराना कि इधर ही आवे –

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ।। ४/१८

फिर लक्ष्मणजी जब उन्हें लेकर आये, तो आशा की जा सकती थी कि प्रभु पूछेंगे – चार महीने कहाँ रहे? आप किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों, तो जरूर पूछेंगे – अब तक कहाँ थे, क्या कर रहे थे? प्रभु को पूछना था – मैंने तुम्हें राज्य दिया, सम्पत्ति दी और तुम मुझे ही भूल गये? कुछ नहीं पूछा। बिना पूछे ही सुग्रीव सफाई देने लगे – प्रभो, क्या करूँ, ये काम-क्रोध-लोभ इतने बुरे हैं कि इनको जीत पाना आपकी कृपा के बिना सम्भव ही नहीं। इसका घुमावदार अर्थ यह था कि आपने कृपा की होती तो ये बुराइयाँ मिटतीं। नहीं मिटी तो आपने कृपा नहीं की होगी। प्रभु को और भी क्रोध आना चाहिये था, पर उनका शील क्या है? खूब हँसे, हृदय से लगा लिया। सफाई क्यों दे रहे हो? क्या मैंने तुमसे पूछा था कि क्यों नहीं आये? अरे भाई, नहीं आये तो क्या हुआ, मेरा भाई भरत भी तो मेरे पास कभी नहीं आता है –

तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।। ४/२०/७

अब भला कहाँ भरत और कहाँ सुग्रीव? कहने लगे – यह कोई नई बात थोड़े ही है, भरत से भी मेरा बहुत दिनों से वियोग है, पर दूर रहने पर भी इतना प्रेम है और मुझे लगता है कि तुम भी भरत के समान दूर रहकर भी मेरी याद करते रहते हो। सुग्रीव प्रसन्न हो गये – चलो, प्रभु की कृपा है। यही भगवान का शील है और उनका यह शील-गुण दूसरे के हृदय को सदा कल्याणकारी रूप में परिणत कर देता है। अपने शील के द्वारा दूसरों के दोष को भी गुण बना देना – श्रीराम का यह शील ही सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिये गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में कहा – श्रीराम के अन्य गुणों को देखकर व्यक्ति में यदि भक्ति न हो तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा, परन्तु श्रीराम के शील-स्वभाव जानने के बाद भी जिसके हृदय में भक्ति का उदय न हो, तो उसकी माँ ने उसे जन्म देकर अपने यौवन के सौन्दर्य को नष्ट मात्र किया है –

तुलसी राम सुभाउ शील लखि जौ न भगति उर आई।
तौ तेहि जाय जाय जननी जन-तन तरुनता गँवाई ।।

भगवान का यह जो शील है, यही रामराज्य की स्थापना है। रामराज्य त्रेतायुग में ही बन सकता है, द्वापर में नहीं बन सकता, सत्युग में भी नहीं बन सकता और कलियुग की तो बात ही क्या? द्वापर में क्यों नहीं बन सकता?

भगवान श्रीराम के चरित्र का यह जो पक्ष है, उसके साथ महाभारत के महानतम पात्रों के चरित्र की तुलना करके देखें, तो कितना अन्तर लगता है? अर्जुन इतने बड़े योद्धा हैं, इतने गुणों से युक्त हैं, पर एक क्षण ऐसा आया जब वे तलवार से युधिष्ठिर का सिर काटने को प्रस्तुत हो गये। क्यों? कर्ण और युधिष्ठिर में युद्ध हुआ। बिचारे युधिष्ठिर कर्ण के सामने भला कहाँ टिकते, पर कर्ण सामने आ गया तो लड़ना पड़ा। घायल होकर भागे। रथ लौटाकर शिविर में आये। दवा-दारू होने लगी। अर्जुन को पता चला कि भैया युधिष्ठिर घायल हो गये हैं। वे भगवान कृष्ण से बोले – चलिये, देखें कि महाराज को कैसी चोट लगी है। मुझे बड़ा दु:ख हो रहा है कि हमारे बड़े भाई घायल हो गये। प्रभु ने कहा – रथ को ले चलते हैं। लेकर आये। अर्जुन रथ से उतरकर गये और जाकर जब युधिष्ठिर को प्रणाम किया, तो युधिष्ठिर को यह भ्रम हुआ कि यह कर्ण को मारकर मुझे प्रणाम करने आया

है। बड़े प्रसन्न होकर बोले – वाह-वाह, तुमने बड़ा अच्छा कार्य किया, कर्ण ने तो मुझे इतनी चोट पहुँचाई थी, पर वह सारी पीड़ा तुम्हारी वीरता से मिट गई कि तुमने कर्ण को मार डाला। अर्जुन बोले – महाराज, कर्ण अभी मरा नहीं है, मैं तो आपको घायल सुनकर देखने आया हूँ। सुनते ही युधिष्ठिर इतने क्रोधित हो गये कि उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि अर्जुन मुझसे इतना प्रेम करता है कि युद्ध छोड़कर मुझे देखने आया है। क्रोध से वशीभूत होकर वे अर्जुन को धिक्कारने लगे और अन्त में यह भी कह दिया कि तेरा गाण्डीव किस काम का है! तू गाण्डीवधारी के नाम से बड़ा प्रसिद्ध है, परन्तु तेरा यह गाण्डीव कुछ भी नहीं, बाँस का एक टुकड़ा मात्र है। अर्जुन ने तलवार निकाल ली और युधिष्ठिर का सिर काटने चले। जिनके घायल होने से इतने दुःखी होकर देखने आये थे, उन्हीं का सिर काटने चल पड़े।

भगवान कृष्ण ही उस युग में एकमात्र सत्य-स्वरूप हैं और उस युग के बाकी जितने महान् सत्यवादी-धर्मात्मा पात्र हैं, वे सब रामयुग के सामने अधर्मात्मा ही सिद्ध होंगे। श्रीकृष्ण ने पूछा – "यह क्या कर रहे हो तुम? युधिष्ठिर पर तलवार चला रहे हो!" अर्जुन बोले – "महाराज, सत्य ही तो सबसे बड़ा धर्म है! मैंने प्रतिज्ञा कर रखी है कि कोई मेरी निन्दा करे तो क्षमा कर दूँगा, परन्तु यदि कोई मेरे इस गाण्डीव की निन्दा करेगा, तो उसका सिर काट लूँगा। सत्य की रक्षा करने के लिये इनका सिर काटना पड़ेगा।" उस युग में ऐसे ही अर्जुन के समान सत्यवादी थे, जिनको भगवान ने गीता के तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया हो, उसका स्तर यह हो कि वे सत्य की रक्षा के लिये युधिष्ठिर का सिर काटने को तैयार हो जायँ! भगवान कृष्ण ने कहा – "यह क्या कर रहे हो? तुमने मारने की प्रतिज्ञा की है, तो क्या केवल तलवार से काटकर ही मारा जाता है? अपने से बड़ों को, प्रतिष्ठित या सम्मानीय व्यक्ति को दो-चार अपशब्द कह देना ही उन्हें मार देने के समान है।" श्रीकृष्ण ने बड़ी युक्ति से युधिष्ठिर को बचाया। सत्य-रक्षा के नाम पर अर्जुन अपने पिता तुल्य बड़े भाई और अपने राजा का ही सिर काटने चल पड़े थे। पर श्रीकृष्ण ने कहा कि उनके प्रति दो-चार कठोर वाक्य कह दो, बड़ों के लिये तो यही मृत्यु के समान है। अर्जुन में कम-से-कम इतना तो विवेक था कि उसने भगवान की बात सुनी, माना और युधिष्ठिर पर तलवार के स्थान पर कठोर शब्दों से प्रहार करके अपने सत्य की, अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा की। और युधिष्ठिर अर्जुन के उस कठोर शब्द-प्रहार से इतने क्रोधित हुये कि घायल अवस्था में ही उन्होंने अपना मुकुट उतारकर रख दिया और बाहर जाने लगे। भगवान ने पूछा – यह क्या कर रहे हैं? बोले – मैंने भी यह प्रतिज्ञा की है कि मेरे छोटे भाई मेरा अपमान करेंगे तो मैं सब कुछ छोड़कर चला जाऊँगा। अब एक सत्यवादी के सत्य को बचाया, तो दूसरे सत्यवादी के सत्य बचाने की समस्या! और इन दोनों सत्यवादी के बीच में खड़े हैं साक्षात् सत्य-स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण। वादी और प्रतिवादी दो शब्द हैं। कोई वादी हो तो दूसरा प्रतिवादी होगा। भगवान श्रीकृष्ण सत्यवादी हैं क्या? वे सत्यवादी नहीं हैं, वे तो साक्षात् मूर्तिमान सत्य हैं –

सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपद्ये ।।

इतने बड़े महापुरुष महाराज युधिष्ठिर! भगवान ने उन्हें भी शान्त किया – आप बड़े हैं, छोटों को छोटा मानते हैं, तो कितना छोटा मानते हैं? छोटे बालक कुछ अटपटा, कड़वा बोल देते हैं, तो क्या उसे इतनी गम्भीरता से लेते हैं –

जौ बालक कह तोतरि बाता ।
सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ।।

अर्जुन आपसे इतना छोटा है, आपके सामने बालक है, आप इतने बड़े हैं, आप कैसे बुरा मान गये!

इस प्रकार दो सत्यवादियों के सत्य की रक्षा हुई। अब सोचिये कि जहाँ ऐसा सत्यवाद है, वहाँ सत्य की क्या स्थिति होगी। महाभारत काल में सारे सत्यवादी लड़कर मर गये। सब-के-सब सत्यवादी थे – कर्ण सत्यवादी, युधिष्ठिर सत्यवादी, शल्य सत्यवादी, भीष्म सत्यवादी। महाभारत में सत्यवादियों की बड़ी भीड़ दिखाई देती है। सबके साथ कोई-न-कोई प्रतिज्ञा जुड़ी हुई है और वे अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हैं। भीष्म काशीराज की कन्याओं को हरण करके लाये। वह कार्य अन्याय था, धर्म के विरुद्ध था। जब आपको विवाह ही नहीं करना है, तो आप कन्याओं को हरण करके क्यों लाये? उस कन्या की आपत्ति बिल्कुल सही थी। कन्या ने कहा – मैं तो किसी अन्य राजकुमार से प्रेम करती थी और आपने मेरा हरण करके मेरी ऐसी दशा कर दी। भीष्म बोले – मैं क्या करूँ, विवाह न करने की मेरी प्रतिज्ञा है, अब मैं विवाह कैसे करूँ? वह कन्या परशुरामजी के पास गई। परशुरामजी ने जब सुना तो कहा कि कन्या का पक्ष बिल्कुल ठीक है। वे आये, तो भीष्म ने स्वागत किया और परशुरामजी ने कहा – "तुम्हें इस कन्या के साथ विवाह करना होगा। तुमने अन्याय किया है। इस कन्या का हरण करने का तुम्हें क्या अधिकार था?" भीष्म बोले – "महाराज, मैं तो सत्यनिष्ठ हूँ। मैंने पिताजी को विवाह न करने का वचन दिया है। मैं नहीं करूँगा।" परशुरामजी बोले – मैं गुरु हूँ, क्या मेरे वचन का महत्त्व नहीं है? बोले – नहीं महाराज, चाहे जो भी हो जाय, मैं तो अपना वचन तोड़ नहीं सकता।

कितना भेद है। भीष्म चाहे जितने भी बड़े महापुरुष हों, पर यह उनका अन्याय ही तो था। अन्त में वे उसी कन्या के द्वारा मारे गये। वही कन्या आगे चलकर शिखण्डी के रूप में जन्म लेती है, अर्जुन के रथ में आरूढ़ होकर सामने आती है

और उसी के कारण भीष्म का वध भी होता है। परन्तु – मैं अपने वचन पर अडिग रहूँगा – भीष्म के इस सत्यनिष्ठ रूप से केवल हानि और विनाश को छोड़ और कुछ नहीं हुआ। इसके परिणामस्वरूप परशुरामजी बदल गये। त्रेतायुग में श्रीराम ने परशुरामजी को अपने शील से जीता था। परशुरामजी के प्रति भगवान राम ने ऐसे वचन कहे कि एक भी कटु शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। परशुरामजी तो चकित रह गये। उन्होंने श्रीराम से पूछा था – "सारे संसार के राजा मुझसे डरते हैं, पर मैं जानना चाहता हूँ कि तुम डरते हो या नहीं? तुम्हें देखकर लगता नहीं है कि तुम डरते हो, लेकिन तुम्हारे व्यवहार में इतनी विनम्रता दीख पड़ती है! कोई भयभीत व्यक्ति ही इतना विनम्र होगा।" तो भगवान श्रीराम ने क्या उत्तर दिया? बोले – महाराज, वैसे भौतिक अर्थों में देखें तो मेरा रघुवंश में जन्म हुआ है, अतः मुझे काल से भी डर नहीं लगता। परन्तु मैं आप से डरता हूँ। इसलिये नहीं डरता हूँ कि आप बड़े योद्धा हैं, बल्कि मैं आपको ब्राह्मण और मुनि के रूप में देखकर डरता हूँ। और मैं काल से इसीलिये नहीं डरता कि आप से डरता हूँ –

कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई ।। १/२८३/४-५

कितना सम्मान दे दिया। बोले – आप जैसे गुरुजनों का आशीर्वाद है, इसलिये मैं निर्भय हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ, मुझमें अगर निर्भयता है तो वह आपके कृपा का परिणाम है। यह वाणी परशुरामजी को कितना परिवर्तित कर देती है! परशुरामजी ने भगवान राम के गुणों का जो वर्णन किया वह स्तुति क्या है? गुण का ही विवाद था। आपमें नौ गुण हैं, मुझमें कोई गुण नहीं है। और परशुरामजी जब भगवान राम के गुणों को गिनाने लगे तो वे बड़े महत्त्व के शब्द थे –

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज बन गहन कृसानू ।। १/२८४/१

उन्होंने वह सूत्र दिया जो श्रीराम के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट पक्ष है। क्षत्रिय को युद्ध की चुनौती स्वीकार करनी चाहिये। उस युग की यह परम्परा थी कि जो आपको पहले निमंत्रण देने आ जाये, उसी की ओर से लड़िये। अब पढ़कर लगता है कि यह भी एक विचित्र धर्म था। यह क्या कोई भोजन का निमंत्रण था कि जिसका पहले आ जाये, उधर ही जायेंगे! आपको न्याय का पक्ष लेकर लड़ना है या जो पहले आ गया उसकी ओर से? पर उस युग की यही मान्यता थी। भगवान भी दुर्योधन से सीधे यह नहीं कह सके कि तुम्हारी ओर से नहीं लड़ूँगा। वे तो बड़े कलानिधान हैं, अतः बड़ी चतुराई से उन्होंने एक ओर सेना और दूसरी ओर स्वयं को रखकर दुर्योधन से पीछा छुड़ाया। लेकिन प्राचीन परम्परा यह थी कि क्षत्रिय को कोई युद्ध के लिये चुनौती दे, तो उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिये। परशुरामजी ने भगवान राम को युद्ध के लिये चुनौती दी थी –

करु परितोष मोर संग्रामा ।।

पर भगवान राम नहीं लड़े। धनुष नहीं उठाया, बाण नहीं चलाया। लगा कि वे क्षात्र धर्म से च्युत हो गये। उन्हें चुनौती दी गई है और वे उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं। पर परशुरामजी ने इतनी बढ़िया व्याख्या की, बोले – राम, आज मैंने देखा कि तुम बिना धनुष-बाण उठाये ही लड़ सकते हो। वस्तुतः तुमने मुझे हराने की चेष्टा नहीं की; तुमने तो मोह के विरुद्ध, मद के विरुद्ध और क्रोध के विरुद्ध लड़ाई की –

जय मद मोह कोह भ्रम हारी।

मेरे अन्तःकरण में तुम्हें देखकर जो भ्रम हो रहा था कि यह कोई साधारण क्षत्रिय राजकुमार है, इसलिये क्रोध भी आ रहा था, पर तुमने बिना शस्त्र उठाये ही उसे नष्ट कर दिया। धन्य है तुम्हारा क्षात्र धर्म, जो व्यक्ति को नहीं, अपितु बुराइयों को परास्त करता है। उन्होंने और भी बड़ा सुन्दर वाक्य कहा – तुम तो विनय, शील और करुणा के साक्षात् समुद्र हो।

विनय सील करुना गुन सागर ।। १/२८४/३

उन्होंने कहा – तुम्हारे चरित्र में तिरंगा गुण है – विनय, शील और करुणा। शील मध्य में और विनय तथा करुणा के दो रंग दाहिने-बाँयें। बड़ों के प्रति विनय, छोटों के प्रति करुणा और सबके प्रति समान रूप से शील। परशुरामजी द्वारा इतने क्रोध और कठोर शब्द के प्रयोग करने पर भी भगवान राम के मुख से एक भी कठोर शब्द नहीं निकला। परशुरामजी बोले – "राम, तुम धन्य हो! तुम्हारे जैसा वक्ता तो मैंने देखा ही नहीं। तुमने इतने सैद्धान्तिक तत्त्वों का निरूपण किया! बोलने में कितने कुशल हो! जब मैं तुम्हारी वाणी के अर्थ पर विचार करता हूँ, तो लगता है कि तुमने मुझे तत्त्वज्ञान का, दर्शन का कैसा दर्शन करा दिया; पर विनम्र होकर, शिष्य होकर, प्रार्थना के स्वर में! तुम्हारे समान वाक्य-रचना में निपुण तो दूसरा कोई है ही नहीं –

जयति बचन रचना अति नागर ।। १/२८४/३

श्रीराम के गुणों की महिमा क्या है? हम दूसरे के अवगुण सिद्ध करके अपने को गुणवान सिद्ध करते हैं, दूसरे को मूर्ख सिद्ध करके स्वयं को विद्वान् सिद्ध करते हैं, दूसरे को हारा हुआ सिद्ध करके अपने को बलवान सिद्ध करते हैं, परन्तु श्रीराम के गुण की विशेषता यह है कि सामनेवाले में भी उनका गुण आ जाता है। परशुरामजी की उनके प्रति प्रार्थना में कितना विनय है! जिसने संसार के सारे क्षत्रियों को हराया हो, सब लोक जिसके चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हों, उसके द्वारा भरी सभा में स्तुति कर सकना विनय की पराकाष्ठा है। जिन्होंने कहा था कि धनुष तोड़नेवाले का सिर काट लूँगा, वे ही कितनी उदारता, विनम्रता, करुणा और

शील की प्रतिमूर्ति बन गये ! श्रीराम स्वयं विनय, शील तथा करुणा के गुणों से युक्त हैं ही, पर जो व्यक्ति उनके गुणों की ओर देखता है, उसमें भी वे गुण स्वयं आ जाते हैं –

सेवक सुखद सुभग सब अंगा ।
जय सरीर छबि कोटि अनंगा ।।
अनुचित बहुत कहेऊँ अग्याता
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ।। १/२८४/४,६

परशुरामजी की यह जो शब्दावली है, इसमें कितनी महानता है ! दूसरा व्यक्ति होता, तो क्षुब्ध होकर लौट जाता, पराजित व्यक्ति होकर लौट जाता। परन्तु श्रीराम हराते नहीं, श्रीराम के गुणों की विलक्षणता यही है।

इसी वर्ष का बात है। उत्तर प्रदेश के बरेली नगर में प्रति वर्ष कथा आयोजित करते हैं। वहाँ जब कार्यक्रम की तिथियाँ निश्चित की गईं, तब तक चुनाव की तिथियाँ निश्चित नहीं थीं। उत्तर प्रदेश में चुनाव होनेवाला था। जब कार्यक्रम निश्चित हो गया और कार्ड छप गये, तो पता चला कि जिस दिन कथा का समापन है, उसी दिन मतदान होनेवाला है। तो बरेलीवालों का कहना स्वाभाविक ही था कि एक दिन पहले या एक दिन बाद समापन हो, तो ज्यादा अच्छा हो, क्योंकि उस दिन मतदान के कारण कम लोग आ पायेंगे। मैंने कहा – नहीं, निश्चित रूप से कथा तो उसी दिन समाप्त होगी। – क्यों? मैंने कहा – वह मतदान का दिन है और मैं भी देखना चाहता हूँ कि राम के पक्ष में कितना मत पड़ता है ! और सचमुच, मुझे यह देखकर बहुत आनन्द आया, आश्चर्य हुआ कि सबसे अधिक भीड़ उसी दिन थी। जो श्रोता आये थे, उनमें विभिन्न दलों के लोग थे। उन्होंने अगल-अलग पेटियों में मतदान किया होगा। मैंने कहा कि अन्यत्र मतदान में एक हारता है और एक जीतता है, पर श्रीराम के पक्ष में मतदान सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वे सबको जिताते हैं, किसी को हराते नहीं। वह श्रीराम की शैली है, सबको जिता देना, श्रीभरतजी ने कहा – बचपन से ही स्वयं हारकर मुझे जिताते रहे हैं –

सिसुपन ते परिहरेउ न संगू ।
कबहूँ न कीन्ह मोर मन भंगू ।।
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही ।
हारेहु खेल जितावहि मोहीं ।

परशुरामजी से बार-बार यही कहा – महाराज, मैं हर तरह से आप से हारा हुआ हूँ –

सब प्रकार हम तुम सन हारे ।
छमहु बिप्र अपराध हमारे ।। १/२८१/८

एक हारता है, तो दूसरा जीतता है। पर यहाँ परशुरामजी कहते हैं – मैं स्वीकार करता हूँ कि सारे गुण तुममें हैं। और भगवान कहते हैं – मैंने हार स्वीकार कर ली है।

श्रीराम के चरित्र में शील से युक्त गुण को ही हम गुण कहते हैं। श्रीराम दूसरों के जीवन में भी गुण की सृष्टि कर देते हैं। इसी शील-गुण के द्वारा रामराज्य स्थापित हो सकता है। रामराज्य सत्य-गुण के द्वारा नहीं, शील-गुण के द्वारा स्थापित होगा। श्रीराम ने इसी शील के द्वारा संसार के सभी प्राणियों का हृदय जीत लिया। श्रीराम के संवाद से यहाँ विवाद मिट गया। पर वहाँ पर जब परशुरामजी ने भीष्म से कहा – यदि तुम्हारे पिता ने आज्ञा दी है और तुमने वचन दिया है कि विवाह नहीं करोगे, तो मैं आदेश देता हूँ कि तुम विवाह करो। भीष्म ने कहा – मैं नहीं करूँगा। मैं सत्यनिष्ठ हूँ। परशुरामजी बोले – मेरा इतिहास भूल गये क्या? मैं वही परशुराम हूँ, जिसने इक्कीस बार सारी क्षत्रिय जाति को मिटा दिया है। तब भीष्म ने कहा – हाँ महाराज, सुना तो है, पर उस समय भीष्म जैसा कोई क्षत्रिय नहीं रहा होगा, तभी आप जीत गये। जरा सोचिये, कहाँ भीष्म का यह उत्तर और श्रीराम का यह कहना – सब प्रकार हम तुमसे हारे।

भीष्म का उत्तर सुनकर परशुरामजी क्षुब्ध हो गये। गुरु-शिष्य में युद्ध हुआ और उस युद्ध में दोनों ही ब्रह्मास्त्र का सन्धान करते हैं। लोग जलने लगे। प्रार्थना की गई – आप दोनों कृपा करिये, अपने अस्त्र वापस ले लीजिये। पर वहाँ भी भीष्म कहने लगे – पहले परशुरामजी को वापस लेना होगा। – क्यों? बोले – वे ब्राह्मण हैं, वे यदि वापस लेते हैं, तो उन्हें कोई कलंक नहीं लगेगा। क्षत्रिय होकर मैं पीछे हटूँ ! उस युग का वह सत्य ! जब उस समय के धर्मात्मा ऐसे हैं, तो वहाँ कहाँ रामराज्य बनने वाला था।

वस्तुत: भगवान श्रीराम के गुणों का क्या वर्णन किया जाय। गोस्वामीजी कहते हैं – कवियो, कविता में तो दोष हैं, छिद्र हैं और यदि उसे भरना है तो श्रीराम के गुण के धागे में अपनी कविता की मोती को पिरोओ और माला बनाओ। उस माला को सज्जन लोग धारण करें। और एक बड़ी बात कह दी कि चिन्ता मत करना, मोती कम पड़ सकता है, पर धागा अनन्त है। जितने कवि हुए हैं, जितने हैं और आगे भी जितने होंगे, अपनी कविता की मोती पिरोकर माला बनाते रहें, परन्तु राम अनन्त गुणशाली है, उनकी कथा अनन्त है।

गुण का धागा कभी समाप्त नहीं होगा। श्रीराम के गुण के धागे से कविता का छिद्र भर जायेगा, पर यहाँ जो मोतियाँ हैं, उन्हें चुगना है, माला नहीं बनानी है। अत: गोस्वामीजी कहते हैं – यहाँ तो श्रीराम का निश्छिद्र गुण है और यदि हम अपनी जिह्वा को हंसिनी बनाकर उन गुणों के मोतियों को चुगने लगेंगे, तो प्रभु हमारे हृदय में निवास करेंगे।

❖ **(क्रमश:)** ❖

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– २०३ –

अल्प ज्ञान झगड़े का मूल

एक गाँव में एक हाथी आया। कुछ अन्धों के मन में भी उसे देखने की इच्छा हुई। बाकी लोगों के साथ ही वे भी उसे देखने गये। आँखें न होने के कारण उन लोगों ने टटोल-टटोलकर ही हाथी को समझने का प्रयास किया। इसके बाद वे लौटकर अपने घर चले आये और आपस में मिलकर विचार करने लगे कि हाथी कैसा था?

जिसने उसका पैर छुआ था, वह बोला – "हाथी खम्भे जैसा था।"

जिसने उसके कान का स्पर्श किया था, वह बोला – "हाथी सूप के जैसा था।"

जिसने उसका पेट छुआ था, वह बोला – "हाथी दीवार के सरीखा था।"

जिसने उसका सूँड़ छुआ था, वह बोला – "हाथी एक मोटी रस्सी जैसा था।"

इस प्रकार चारों अन्धे हाथी के आकार के बारे में आपस में वाद-विवाद करने लगे और एक-दूसरे को गलत बताने लगे। उनका कोलाहल सुनकर एक आँखवाला व्यक्ति उनके पास आकर बोला – "क्या बात है? तुम लोगों का किस बात पर विवाद हो रहा है?" उन लोगों ने सारी बात उसे सुनाकर फैसला करने को कहा।

उनकी बातें सुनकर वह व्यक्ति बोला – "तुम लोगों में से किसी ने भी हाथी को पूरी तौर से नहीं देखा। हाथी स्वयं नहीं, बल्कि उसके पैर खम्भे-जैसे होते हैं, उसके कान सूप-जैसे होते हैं, उसका पेट दीवार-जैसा होता है और उसकी सूँड़ एक मोटी रस्सी के जैसी होती है। इन सबको मिलाकर ही पूरा हाथी बना है।"

जिस व्यक्ति ने ईश्वर के केवल एक ही पहलू को देखा है, वह यही सोचता है कि ईश्वर बस ऐसे ही हैं; इससे अलग कुछ हो ही नहीं सकते और वह इस विषय में दूसरों से विवाद भी करता रहता है। परन्तु ईश्वर अनन्त हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। जिसने ईश्वर का साक्षात् दर्शन किया है, वह उनके स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है। वह ठीक जानता है कि ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी।

– २०४ –

अज्ञान से कट्टरता आती है

किसी कुएँ में एक छोटा-सा मेढक रहता था। वह उसी में जन्मा था और उसी में बड़ा हुआ था। उसने कभी बाहर का संसार नहीं देखा था। एक बार एक समुद्र का मेढक उस कुएँ में गिर पड़ा।

कुएँवाले मेढक ने उससे पूछा – "तुम कहाँ से आ रहे हो?"

दूसरा मेढक बोला – "समुद्र से।"

कुएँवाले मेढक ने पूछा – "समुद्र कितना बड़ा है?"

समुद्रवाले मेढक ने उत्तर दिया – "बहुत ही बड़ा है!"

तब कुएँवाले मेढक ने अपने दो पैर फैलाकर पूछा – "क्या इतना बड़ा है?"

समुद्री मेढक बोला – "नहीं, इससे बहुत बड़ा।"

कुएँवाले मेढक ने कुएँ के इस छोर से उस छोर तक छलाँग लगाकर पूछा – "तो क्या वह इतना बड़ा है?"

समुद्रवाला मेढक बोला – "नहीं, वह इससे भी बहुत-बहुत बड़ा है।"

तब कुएँ का मेढक बोला – "तू झूठ बोलता है। भला इस कुएँ से भी बड़ा क्या कुछ हो सकता है?"

कूपमण्डूक के समान ही संकीर्ण बुद्धि के लोग यह मान ही नहीं सकते कि उनके मत से बड़ा कुछ हो सकता है।

– २०५ –

ईश्वर को जानना ही सच्ची विद्वत्ता है

एक विद्वान् ब्राह्मण एक राजा के पास जाकर बोले – "महाराज, मैं आपको भागवत सुनाना चाहता हूँ।"

राजा बोले – "महाराज! आपने अभी भागवत को ठीक से नहीं समझा है। उसे अच्छी तरह पढ़ने के बाद आइये।"

पण्डितजी नाराज हो गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा – "राजा कैसा निर्बुद्धि है! मैंने इतने वर्ष तक भागवत का पाठ किया और यह कहता है फिर से समझकर आइये।" परन्तु उसमें राजा की बात के ऊपर कुछ कहने का साहस नहीं था।

पण्डितजी ने घर आकर भागवत का फिर से पाठ करना आरम्भ किया। पढ़ते हुए वे हँसते भी जाते और सोचते – "राजा कैसा मूर्ख है; भला अब मेरे लिए इसमें समझने को क्या बाकी रहा?'

कुछ दिनों में भागवत पाठ पूरा हो जाने के बाद पण्डितजी फिर राजा के पास जाकर बोले – "महाराज, अब मुझसे भागवत सुनिए।"

राजा ने फिर कहा – "पण्डितजी आप स्वयं उसे अच्छी तरह पढ़कर आइए, उसके बाद मैं आपसे सुनूँगा।"

पण्डितजी मन-ही-मन खूब चिढ़कर फिर लौट आये। पर इस बार वे सोचने लगे – "राजा जब मुझसे बार-बार यह बात कह रहे हैं, तो अवश्य इसके पीछे कुछ अर्थ होगा।"

उन्होंने फिर अपनी पोथी खोली और पढ़ना शुरू किया। परन्तु इस बार वे जितना ही पाठ करने लगे, उनके चित्त में उतने ही नये-नये भावों का उदय होने लगा। वे अपने कमरे में अकेले बैठकर भागवत पढ़ते हुए भक्तिभाव से भावविभोर हो जाते और व्याकुल होकर रोने लगते। राजभवन में दुबारा जाने का विचार तक उनके मन से चला गया।

बहुत दिनों बाद राजा ने सोचा – "वे पण्डितजी अब क्यों नहीं आते?" उनकी खबर लेने राजा स्वयं ही उनके घर जा पहुँचे। उन्होंने देखा – पण्डितजी भावमग्न होकर भागवत का पाठ कर रहे हैं और उसके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु की धारा बहती जा रही है।

राजा बोले – "महाराज! अब आपका भागवत-पाठ ठीक-ठीक हो रहा है। अब मैं आपसे भागवत सुनूँगा।"

भागवत का मर्मार्थ यही है कि संसार के लोभ-मोह आदि को छोड़कर भगवान की भक्ति करनी चाहिये।

– २०६ –

सच्चे गुरु की शक्ति

श्रीरामकृष्ण एक बार पंचवटी की ओर से होकर दिशा-मैदान के लिये जा रहे थे। जाते हुए उन्होंने एक मेढक की आवाज सुनी। वह लगातार चिल्लाये जा रहा था। उन्हें लगा कि जरूर इसे किसी साँप ने पकड़ा है। बड़ी देर बाद वहाँ से अपने कमरे की ओर लौटते समय भी उन्हें वही आवाज सुनाई दे रही थी।

उन्होंने झाड़ियों के बीच झाँककर देखा कि एक पनिहा साँप ने एक बड़े मेढक को मुँह में पकड़ रखा है। साँप के दाँत पीछे की ओर मुड़े होते हैं, इसलिये वह न तो उसे निगल पा रहा था और न उसे बाहर ही निकाल पा रहा था। बेचारे साँप और मेढक – दोनों की ही बड़ी दुर्दशा हो रही थी। वे समझ गये कि पनिहा साँप होने के कारण ही दोनों की ऐसी हालत हो रही है। यदि उसे असली नाग पकड़ता, तो तीन ही बार चिल्लाकर वह ठण्डा हो जाता।

इसी प्रकार यदि कोई अज्ञानी जीव अपने को गुरु कहकर दूसरों को भवबन्धन से मुक्त करने जाता है, तो उन गुरु तथा शिष्य – दोनों की इसी प्रकार दुर्दशा होती है। न तो शिष्य का अहंकार दूर होता है और न उसके भवबन्धन ही कटते हैं। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ने से शिष्य कभी मुक्त नहीं होता। पर सद्गुरु होने पर जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर हो जाता है।

– २०७ –

लुका-छिपी का खेल

चोर-चोर के खेल में सब बच्चे दौड़कर ढाई को छूने की चेष्टा करते हैं। एक बार बूढ़ी को छू लेने पर उन्हें फिर चोर नहीं बनना पड़ता। यदि सभी लड़के बूढ़ी को छू लें, तो फिर खेल ही बन्द हो जायगा। बूढ़ी चाहती है कि खेल होता रहे, वह नहीं चाहती कि सब लड़के उसे छू लें।

ईश्वर का आश्रय लेकर, उन्हें प्राप्त करने के बाद गृहस्थी में भलीभाँति रहा जा सकता है। उसके बाद संसार-बन्धन में फँसने का भय नहीं रह जाता। पहले बूढ़ी को छू लो, फिर इस संसार का खेल देखते रहो।

– २०७ –

डूबे सो बोले नहीं

खाली घड़े को तालाब में डुबाकर पानी भरते समय उससे 'भक्-भक्' की आवाज निकलती है। जब तक घड़ा भर नहीं जाता, तब तक आवाज निकलती रहती है। परन्तु घड़ा भर जाने के बाद – घड़े का जल और तालाब का जल एक हो जाने के बाद फिर आवाज नहीं होती।

इसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता, तब तक तर्क-विचार चलता रहता है। परन्तु ब्रह्मज्ञान हो जाने पर मनुष्य चुप हो जाता है, ज्यादा नहीं बोलता।

उसके बाद यदि पानी को एक घड़े से दूसरे में ढाला जाय, तो फिर आवाज होती है। नारद, शुकदेव आदि ने समाधि के बाद जीवों के प्रति प्रेम और करुणा से प्रेरित होकर कुछ सीढ़ियाँ नीचे उतर आकर लोकशिक्षा दी थी।

ब्रह्मदर्शन होने पर व्यक्ति चुप हो जाता है। विचार तभी तक होता है, जब तक दर्शन न हो जाय। घी से तभी तक आवाज निकलती है, जब तक वह पक न जाय। पके घी से आवाज नहीं निकलती। पर पके घी में जब कच्ची पूरी तली जाती है, तो फिर आवाज निकलती है। पूरी के पक जाने पर आवाज फिर बन्द हो जाती है। ज्ञानी पुरुष लोक-शिक्षण हेतु समाधि से नीचे उतरते हैं और उपदेश देते हैं। ❑❑❑

नारदीय भक्ति-सूत्र (१४)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

ईश्वरस्याप्यभिमान-द्वेषित्वात् दैन्य प्रियत्वात् च ।।२७।।

अन्यवयार्थ – **ईश्वरस्य** – ईश्वर के, **अपि** – भी, **अभिमान** – अहंकार, **द्वेषित्वात्** – द्वेषी होने के कारण, **च** – और, **दैन्य** – दीनता, **प्रियत्वात्** – प्रिय होने के कारण।

अर्थ – (भक्ति अन्य मार्गों से उत्तम है,) क्योंकि ईश्वर भी अभिमान को पसन्द नहीं करते और दीनता से प्रेम करते हैं।

२५वाँ सूत्र भक्ति को कर्म, ज्ञान तथा योग आदि अन्य मार्गों से ऊपर रखता है। भक्ति उन सभी से उत्कृष्ट है। इसके लिये पहला तर्क यह है कि भक्ति में भक्ति के माध्यम से ही फल उत्पन्न होता है, जबकि अन्य मार्ग लक्ष्य न होकर केवल मार्ग हैं। भक्ति केवल मार्ग ही नहीं, बल्कि लक्ष्य भी है।

भक्ति की उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि भक्त अहंकारमुक्त तथा दीनता की प्रतिमूर्ति होता है। चूँकि ईश्वर अहंकार से दूर रहते हैं और दीनता पसन्द करते हैं, अत: भक्ति ही ईश्वर को पूर्णत: सन्तुष्ट कर सकती है। यह मानो अन्य मार्गों की निन्दा करना या उन्हें नीचा दिखाने जैसा हुआ, क्योंकि कर्मयोगी अभिमानी हो सकता है, ज्ञानमार्गी यह सोच सकता है कि वह स्वयं ही सर्वोच्च ईश्वर है, इसलिये इन मार्गों में दीनता का प्रश्न ही नहीं उठता।

जो व्यक्ति सत्कर्म करता है अथवा यज्ञ तथा कर्मकाण्डों का अनुष्ठान करता है, वह प्राय: एक तरह के – धार्मिक होने के अहंकार का पोषण करते हुए दीख पड़ता है। वह अहंकार से फूल जाता है, क्योंकि वह दूसरों की तुलना में अपने को कुछ ऊँचा सोचता है। ज्ञानमार्ग में तो और भी स्पष्ट रूप से ऐसा हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द भी जब ज्ञानमार्ग की चर्चा करते, तो लोग उन्हें अहंकारी समझ लेते थे। जो व्यक्ति अहंकार से फूलकर 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता है, लोग स्वाभाविक तौर पर ही उससे भयभीत हो जाते हैं।

अत: अन्य मार्ग लोगों में एक तरह का अहंकार भाव उत्पन्न करते दिखाई देते हैं, जबकि भक्तिमार्ग में, भक्त सदैव अहंकार-मुक्त और विनम्र होता है, इसलिये यह सहज ही मान लिया जाता है कि ईश्वर उसे अधिक प्रेम करते हैं। और एक भक्त की मुख्य विशेषता के रूप में विशेष रूप से यही बात कही गई है कि वह अहंकारशून्य होता है। भक्तिमार्ग के महान् आचार्यों द्वारा इन्हीं दो बातों पर हमेशा जोर दिया गया है कि व्यक्ति को अहंकारमुक्त होना चाहिये और विनम्र होना चाहिये। भक्ति-मार्ग के महान् आचार्यों में से एक श्री चैतन्य महाप्रभु प्राय: इस श्लोक की आवृत्ति किया करते थे –

तृणादपि सुनीचेन
तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन
कीर्तनीयः सदा हरिः ।।
(शिक्षाष्टम्)

– "पैरों तले दबी गई घास से भी बढ़ कर विनम्र, वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, स्वयं मान-सम्मान न चाहते हुए और दूसरों को मान-सम्मान देते हुए व्यक्ति को भगवान का महिमा-गान करते रहना चाहिये।" भगवान का गुणगान करनेवाले व्यक्ति में ये योग्यताएँ आवश्यक हैं। स्पष्ट है कि अन्य पथों के अनुयायियों की तुलना में भक्त में यह भाव अवश्य होगा।

इसीलिये नारद कहते हैं कि ईश्वर का प्रिय होने के लिये व्यक्ति को दीन होना चाहिये। तो भी, स्वामीजी कभी-कभी किसी भक्त के दीनता के इस भाव की हँसी उड़ाया करते थे। वे कहते – "अच्छा, तो तुम लोग वैष्णव-मत के हो ! तुम सबसे दीन और विनम्र हो !" वे जानते थे कि अधिकांश साधकों में यह भाव सच्चा नहीं होता, इसीलिये वे इस पर उपहास किया करते। वे प्राय: देखते कि दीनता कभी-कभी आडम्बर की वस्तु बन जाती है कि – मैं तुच्छ हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ। अत: दीनता है, तो सच्ची निष्ठा भी होनी चाहिये। यदि मैं कहूँ कि मैं दीनों से भी दीन हूँ और इसके बावजूद दूसरों को छोटा समझूँ, तो यह सच्ची दीनता नहीं है, यह तो मात्र आडम्बर है। सच्चा भक्त होने के लिये व्यक्ति को हमेशा विनम्र और निरहंकारी होना चाहिये और कभी भी अपनी श्रेष्ठता का भाव नहीं रखना चाहिये। व्यक्ति को वृक्ष से भी

अधिक धैर्यवान होना चाहिये। वृक्ष लोगों को फल देता है, लोगों को छाया प्रदान करता है और लोग क्या करते हैं? वे उसकी शाखाओं को काटते हैं। फिर भी वृक्ष प्रतिकार नहीं करता। वह धैर्यवान और सहिष्णु होता है। ध्यान रहे कि यह केवल उदाहरण है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वृक्ष जान-बूझकर लोगों के ऐसे व्यवहार को सहन करता है। यह तो भक्त के आदर्श का एक उदाहरण मात्र है कि उसे उस व्यक्ति के प्रति भी अच्छा व्यवहार करना चाहिये, जो उसे हानि पहुँचाते हैं। व्यक्ति को कभी घृणा के बदले घृणा नहीं देनी चाहिये या कोई प्रतिशोध नहीं लेना चाहिये। लोगों का उसके प्रति चाहे जैसा भी व्यवहार हो, उसे रंचमात्र भी पाप या प्रतिकार किये बिना, धैर्यपूर्वक उसे सहन करना चाहिये। भक्त का सहिष्णु-भाव ईश्वर को प्रिय है। भक्त दूसरों से मान-सम्मान की कोई अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु वह दूसरों को मान-सम्मान देता है। यदि किसी व्यक्ति में ये योग्यताएँ हैं, तभी उसके उपास्य ईश्वर यथार्थ और फलदायक होंगे। तो ये हुई भक्त की कुछ विशेषताएँ !

तस्याः ज्ञानमेव साधनमित्येके ।।२८।।

अन्यवयार्थ – **तस्याः** – उसका (भक्ति), **ज्ञानम्-एव** – ज्ञान ही, **साधनम्** – साधन, **इति** – ऐसा, **एके** – कुछ।

अर्थ – कुछ अन्य लोगों के मतानुसार भक्ति केवल ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हो सकती है।

अगला सूत्र कहता है कि कुछ आचार्यों के अनुसार भक्ति ज्ञान के माध्यम से ही प्राप्त होती है। किसका ज्ञान? साधन और साध्य का ज्ञान। भक्ति एक भावपूर्ण अवस्था है, पर इस भाव को ठीक तरह से ईश्वर के प्रति निर्दिष्ट करने के लिये विवेक तथा ज्ञान आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण ने एक बार छोटे नरेन को यह बात समझायी थी, क्योंकि वे अपने जीवन में केवल शुद्धा भक्ति चाहते थे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण इस बात पर प्रसन्न हुए, तो भी उन्होंने कहा कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर के बारे में जानता ही नहीं, तो वह किसके प्रति भक्ति करेगा? उसे भक्ति कैसे प्राप्त होगी? इसलिये ज्ञान आवश्यक है। यदि मुझे ईश्वर पर भक्ति करनी है, तो मुझे ईश्वर के बारे में जानना होगा। मुझे इस विषय में कुछ धारणा होनी चाहिये कि ईश्वर कौन और क्या हैं। यदि मुझे ईश्वर क्या हैं, इसकी कोई धारणा नहीं है, तो उनके प्रति भक्ति कैसे की जा सकेगी? अतः इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान जरूरी है। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में, "लेकिन तुम किसी को जाने बिना उससे भला कैसे प्रेम कर सकते हो?" उन्होंने आगे कहा – "ज्ञान-भक्ति है विचार के बाद होनेवाली भक्ति।"[१]

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, भाग २, पृ. ८४९

एक चीज और जरूरी है – व्यक्ति को लक्ष्य तक पहुँचने का कौशल और इसे प्राप्त करने का साधन जानना होगा। व्यक्ति को साध्य और साधन की कुछ धारणा होनी चाहिये। उसके बिना वह मार्ग पर कैसे अग्रसर हो सकेगा? मार्ग को जाने बिना व्यक्ति उस पर कैसे चलेगा? लक्ष्य को जाने बिना कोई कैसे प्रगति करेगा? अतः कुछ आचार्यों के मतानुसार भक्तिमार्ग पर चलने के लिये पहले ज्ञान होना आवश्यक है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ।।२९।।

अन्यवयार्थ – **अन्योन्य** – परस्पर, **आश्रयत्वम्** – निर्भरता, **इति** – ऐसा, **अन्ये** – अन्य (लोग)।

अर्थ – कुछ अन्य (आचार्यों) के मतानुसार (भक्ति और ज्ञान) एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

'कुछ अन्य के मतानुसार' – अर्थात् यह नारद का मत नहीं है। वे बताते है कि भक्ति को प्राप्त करने के साधन के बारे में अन्य आचार्यगण क्या कहते हैं। कुछ अन्य आचार्य कहते हैं कि भक्ति और ज्ञान अन्योन्याश्रय या परस्पर निर्भर हैं। भक्ति को पाने के लिये ज्ञान जरूरी है और समुचित ढंग से ज्ञान को होने के लिये भक्ति भी आवश्यक है। वे दोनों आपस में एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यह स्वाभाविक रूप से एक सन्तुलित दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारः ।। ३० ।।

अन्यवयार्थ – **स्वयं** – (भक्ति) स्वयं, **फलरूपता** – फल के रूपवाली, **इति** – ऐसा, **ब्रह्मकुमारः** – ब्रह्मा के पुत्र (नारद), (**मन्यते** – मानते हैं)।

अर्थ – (ब्रह्मकुमार) नारद के मतानुसार भक्ति स्वयं ही (भक्ति के साधन का) फल है।

नारद स्वयं कहते हैं भक्ति अपने आप में फल है। दूसरे शब्दों में भक्ति किसी अन्य वस्तु का फल नहीं है। यह सभी चीजों से स्वतंत्र है। यह ज्ञान या कर्म या किसी अन्य साधन पर निर्भर नहीं है, स्वयं में पूर्ण है। यही चरम लक्ष्य का स्वरूप है। यह फलरूपा है, अतः सबसे स्वतंत्र रह सकती है। यह नारद का मत है। भक्ति भक्त का स्वभाव है और भक्ति रूपी चरम फल की प्राप्ति भक्ति की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष है। श्रीरामकृष्ण इसे प्रेमाभक्ति या पराभक्ति कहा करते थे। यह ईश्वर के प्रति भक्ति की परम अभिव्यक्ति है। भक्ति ही परिणाम भी है और भक्ति ही मार्ग भी। अतः भक्ति को ज्ञान के माध्यम से नहीं प्राप्त किया जाता। भक्ति स्वयं भक्ति के माध्यम से ही प्राप्त होती है। भक्ति वहाँ पहुँच जाती है, जिसे परिपक्व भक्ति कहते हैं। अतः यह भक्ति स्वयं भक्ति अथवा भगवत्कृपा के द्वारा प्राप्त होती है।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(७३) व्यथा भूल सत्कर्म करो

ईरान के बल्ख साम्राज्य का शासक गुश्ताश्व एक सदाचारी तथा न्यायी राजा था। एक बार वह पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुस्त्र के पास गया। उसने प्रणाम करके उनसे विनम्रता से पूछा, ''मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? आदेश दें, तो अवश्य पालन करूँगा।'' जरथुस्त्र बोले, ''तुम्हें आदेश देने या तुम्हारी सेवा लेने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। मैं ही तुमको तीन चीजें देना चाहूँगा। कृपया उन्हें स्वीकार करो।'' एक हरा पौधा देते हुये उन्होंने कहा, ''यह सद्भावना का प्रतीक है। इसी के समान सबके हृदय में आस्था पैदा करने की कोशिश करो।'' फिर एक पवित्र पुस्तक देते हुये कहा, ''इसमें सद्ज्ञान भरा हुआ है। इसे समझने, आत्मसात् करने तथा दूसरों को देने का प्रयास करो।'' फिर एक मशाल देते हुये कहा, ''सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाली यह मशाल भले कर्मों का प्रतीक है, जो अँधेरे से उजाले की ओर ले जाने का काम करती है। इसी के समान दूसरों को सुखी करने के लिये स्वयं को जलाकर होम कर दो। मुझे विश्वास है कि तुम सत्कर्म, सद्भाव के संयोग से अपने साम्राज्य को सुखी और उन्नत बनाने में कोई कसर न छोड़ोगे।''

जीवन में ऐसे कई अवसर आते हैं, जब फूल चुनते समय हमें काँटें भी चुभते हैं। हम यदि उस पीड़ा-व्यथा को भूलकर स्वयं को सत्कर्मों में लगा दें और सद्ज्ञान एवं सद्भाव के द्वारा दूसरों को सदाचारी व पुरुषार्थी बनाने का प्रयत्न करें, तो निश्चय ही हमारा जीवन सार्थक होगा।

(७४) स्मरण-ईश काटै सब व्याधी

एक बार सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, ''मनुष्य को तरह-तरह की व्याधियाँ क्यों घेर लेती हैं?'' उन्होंने उत्तर दिया, ''परमेश्वर ते भुल्लियाँ व्यापक सब्बे रोग'' अर्थात् परमेश्वर को विस्मृत करना ही सब रोगों का कारण है। इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा, ''हम लोग अपने नित्य के कर्मों में इतने मग्न हो जाते हैं कि जिस भगवान ने हमें इस धरती पर लाने का महान् कार्य किया है, हम उसी को भुला बैठते हैं। हमारा शरीर पाँच तत्त्वों का पुतला है, जो विनाशी है। हर व्यक्ति के शरीर में जीवात्मा निवास करता है, जिससे विचारशीलता और चेतना-शक्ति कार्यान्वित होती है। यदि हम यह मानकर चलें कि मैं परमेश्वर का अंश हूँ, वे मेरे रोम-रोम में बसे हैं और उनके कारण ही मेरा अन्त:करण पवित्र एवं निर्मल है, तब उनकी भक्ति करना मेरा परम कर्तव्य बन जाता है। उसके अस्तित्व की कल्पना को यदि हम अपने तन की बजाय, तन्मय होकर उसके गुणगान में लगा दें, तो हमारे मन में कोई बुराई नहीं आयेगी। भगवान के स्मरण से हमें किसी भी आधि-व्याधि का भय नहीं रहेगा और हमें अक्षय गति प्राप्त होगी।''

(७५) यह संसार काँट की बाड़ी

राज श्रेणिक राजगृह के कुशल नीतिज्ञ शासक थे। वे कलाकारों का यथोचित सम्मान करते थे। प्रजा उनके सुशासन से सुखी थी। उनके दुर्ग का निर्माण ऊँची मजबूत दीवारों से किया गया था। एक बार भगवान महावीर का राजगृह में आगमन हुआ। राजा ने उनके आगमन की बात सुनी, तो वे उन्हें अपने महल में ले आये। महल भव्य और घुमावदार था। भगवान राजा के पीछे-पीछे चल रहे थे। महल की अद्भुत रचना देखकर वे विस्मित रह गये।

भोजन के उपरान्त भगवान महावीर ने कहा, ''राजन्, जिस प्रकार तुम्हारा भवन घुमावदार है, उसी प्रकार यह भुवन (संसार) भी घुमावदार है। तथापि यह भवन भुवन से अधिक घुमावदार नहीं है। इस भुवन में वास करते समय चाहे तुम कितना भी बचने का प्रयास करो, परन्तु तुमको काँटें अवश्य चुभेंगे। जब तुम्हारा मन अपने को किसी घेरे में रखना चाहता है, तो तुम्हारी यही इच्छा रहती है कि स्वयं को सुरक्षित रखें, परन्तु यह वास्तविक जीवन से अलग रहना हुआ। वास्तविक जीवन वह जीता है, जो इन दीवारों से परे है। जो मन घेरों से रहित, रुकावटों-बन्धनों आदि से परे रहता है, जो जीवन-प्रवाह के साथ गतिमान रहता है और आगे बढ़ता जाता है, वही सच्चा आनन्द और सुख पाता है; परन्तु उसके लिये सरलता एवं नम्रता के द्वारा काँटों को दूर करना उतना ही आवश्यक है।''

चरित्र का बल

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

अँगरेजी में एक कहावत है – "If wealth is lost, nothing is lost. If health is lost, something is lost. If character is lost, everything is lost." – अर्थात् "यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता। यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है। पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।" यह चरित्र व्यक्ति का प्राण है, जिसके न रहने से वह चलते-फिरते मुर्दे के ही समान है। चरित्र वह गुण है, जो जीवन को सुषमा प्रदान करता है, वह दीप्ति है, जो अन्धकार के क्षणों में व्यक्ति को पथ दिखाती है; वह चट्टान है, जो प्रलोभनों के झंझावात को झेल लेती है; वह निकष है, जो व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। व्यक्ति की महानता उसके चरित्र पर निर्भर करती है। कुर्सी किसी व्यक्ति को महान् नहीं बनाती। सत्ता से प्राप्त महत्ता क्षणिक होती है, वह सत्ता से अलग होते ही नष्ट हो जाती है। पर चरित्र से प्राप्त महत्ता शाश्वत होती है, वज्राघात भी उसका नाश नहीं कर सकता।

चरित्र तीन स्तम्भों पर खड़ा होता है – पहला कर्मठता; दूसरा निर्भीकता; व तीसरा निःस्वार्थता। चरित्रवान व्यक्ति में आलस्य का अभाव होता है, वह उद्यमशील होता है, कोई भी कार्य उसके लिए असम्भव नहीं होता। उसमें भय का सर्वथा अभाव होता है। वह अन्याय के सामने नहीं झुकता। उसमें इतना साहस भरा होता है कि न्याय और सत्य की रक्षा के लिए वह जोखिम उठाने से नहीं कतराता। उसमें दूसरों के लिए जीने की प्रवृत्ति होती है। वह मानता है कि अपने लिए तो पशु भी जीते हैं, मानव-जीवन की सार्थकता वह इसमें देखता है कि वह दूसरों के काम आए।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि मनुष्य केवल दूसरों के लिए जिये, तो अपने परिवार की देखभाल कैसे करेगा? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति पूरी तौर से दूसरों के लिए जी रहा है, उसे अपने परिवार को देखने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है। यह कर्म का अटल सिद्धान्त है। हाँ, जो अभी पूरी तरह से दूसरों के लिए अपना जीवन नहीं दे सकता, वह कुछ समय दूसरों के लिए निकाले। वही उसके चरित्र में निखार पैदा करेगा। चरित्र को निखारनेवाला तत्त्व निःस्वार्थता ही है। यदि व्यक्ति कर्मठ और निर्भीक हो, पर अपने स्वार्थ में डूबा हो, तो ऐसा व्यक्ति भले ही अपने और अपने परिवार के लिए उपयोगी हो, पर वह दूसरों के लिए उपयोगी नहीं हो पाता। जब चरित्र निःस्वार्थता की कसौटी पर कसा जाता है, तब उसमें निखार उत्पन्न होता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज और देश के काम आता है।

चरित्र को रीढ़ की हड्डी कहा गया है। यदि रीढ़ की हड्डी दुर्बल हो या खराब हो, तो मनुष्य अपंग हो जाता है। उसी प्रकार चरित्र के बिना व्यक्तित्व भी अपंग या खोखला हो जाता है।

जिस देश में चरित्रवान व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, वह देश जीवन के सभी क्षेत्रों में उतना ही समृद्ध होगा। मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ आदि करना चरित्र की कसौटी नहीं है। ये चरित्र को प्रकट करने का साधन बन सकती हैं, यदि इन क्रियाओं के पीछे हमारा दिखावे या स्वार्थपूर्ति का मनोभाव न हो। खेद की बात तो यह है कि अधिकांशतः हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी हमारे स्वार्थ-साधन का ही अंग होती हैं और इसलिए वे हमारे चरित्र के प्राकट्य में साधक होने के बदले बाधक बन जाती हैं।

ईशावास्योपनिषद् (१२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

यह आत्मतत्त्व बहुत गम्भीर और कठिन है। इसलिये उपनिषद के ऋषि हमें इस तत्त्व को बार-बार बताते हैं। जैसे छोटे बच्चे स्कूल में जाते हैं तो उन्हें अलग-अलग माध्यम से शब्द-ज्ञान-देने का प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार उपनिषद हमारे अज्ञान को जानकर, हमें विभिन्न प्रकार से उस तत्त्व के विषय में बताते हैं।

'तद्धावतो अन्यान् तिष्ठत् अत्येति' वह आत्मा दूसरे गतिशील, दौड़नेवालों को, 'तिष्ठत्' – अपने स्थान पर बैठे हुये भी, 'अत्येति' – अतिक्रमण कर जाता है। उनको पार कर जाता है। फिर यहाँ विरोधाभास लगता है कि ऐसे कैसे हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने स्थान पर बैठा है और वह दूसरे दौड़नेवाले व्यक्ति को पार कर जाय? सामान्यत: बुद्धि को यह बात स्वीकार नहीं होती कि ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा इसलिये होता है कि हमारा विचार करने का अभ्यास नहीं है। हम उपनिषद पढ़ तो लेते हैं। किन्तु जहाँ विरोधाभास आया, कठिनाई आयी, तो हम उसे छोड़ देते हैं। यदि जीवन की समस्याओं का समुचित समाधान करना हो तो हमें अवश्य विचार करना पड़ेगा। आत्मा सर्वव्यापी है। जैसे आकाश सब जगह व्याप्त है। कोई भी व्यक्ति या शक्ति इस आकाश को पार नहीं कर सकता। क्योंकि वह सर्वव्यापी है। उसी प्रकार यह आत्मा सर्वव्यापी है, कण-कण में है, रग-रग में है। ऐसा कोई स्थान इस विश्व-ब्रह्माण्ड में नहीं है, जहाँ यह आत्मा न हो। आकाश भी आत्मा के भीतर है।

जो आत्मा सर्वत्र है इसमें गति कैसे हो सकती है? ऐसा सर्वव्यापी परमात्मा, एक जगह स्थिर रहकर – गतिमान लगता है। क्योंकि इस विश्वब्रह्माण्ड में जो गति है, ये समस्त सूर्य, चन्द्र, आकाश इत्यादि इनकी जो गति है, उन सबकी गति का अनुभव हमें परमात्मा की स्थिरता के कारण ही होता है। इसलिये संसार की प्रत्येक गतिशील वस्तु, प्राणी आदि परमात्मा के भीतर हैं। कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता है, क्योंकि जहाँ भी वह जाता है, वहाँ आत्मा या परमात्मा पहले से ही विराजमान है। इसलिये आत्मा एक स्थान में रहते हुये भी सभी पदार्थों, व्यक्तियों आदि का अतिक्रमण कर जाता है।

अब यह परमात्मा कैसा है?। कहते हैं – मातरिश्वा अप: दधाति – मातरिश्वा का अर्थ है 'वायु' या 'हवा'। वायु आत्मा के अस्तित्व के कारण ही अपना कार्य करती है। ब्रह्मा जो समस्त जगत के कर्त्ता हैं, उस आत्मा के अस्तित्व के कारण ही, आत्मा की शक्ति से ही विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना कर रहे हैं। इस हिरण्यगर्भ की अपनी कोई शक्ति नहीं है। इसी आत्मा की शक्ति से प्रलय के पश्चात् हमारे अपने-अपने कर्मों के अनुसार ब्रह्मा इस सृष्टि की रचना करते हैं। जब प्रलय होता है तो परमात्मा ही इसका विनाश करते हैं। अब साधना की दृष्टि से एक बात यहाँ महत्वपूर्ण है। वह यह है, 'मातरिश्वा अप: दधाति' – अप: का अर्थ संस्कृत में जल या पानी होता है। इस मन्त्र में अप: का अर्थ शंकाराचार्य ने मनुष्यों का कर्म किया है – अप: कर्माणि चेष्टा रूप लक्षणानि। जो भी कर्म हमने गत जन्म में किये हैं या वर्तमान में कर रहे हैं, उसे 'अप:' कहा गया है। परमात्मा इस सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ के द्वारा इस सृष्टि की रचना कैसे करते हैं? प्राणी, मानव, पेड़-पौधे ये सब कैसे बनते हैं? जब ईश्वर ही चोर, सन्त, कुत्ता, गाय, सूअर बनाते हैं, तब तो मनुष्य का सारा पुरुषार्थ ही शून्य हो जायेगा। इसलिये हिन्दु-दर्शन का यह मन्त्र कहता है कि वह ब्रह्मा प्रत्येक प्राणी के कर्मों के अनुसार उनका विभाजन करता है। सत्कर्म किया तो सद्-योनि और असत् कर्म किया तो असद्-योनि में भेजता है। दुष्कर्म किये तो मूढ़ योनि में या नीच पशुओं के योनि में जन्म होता है। यदि कर्म पुण्य की आकांक्षा से किया गया हो तो, उसे देवता बना देते हैं। किन्तु, देवता बनने के बाद भी – क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति – पुण्य-क्षय होने के बाद पुन: इस लोक में आना पड़ता है। जब पुण्य और पाप का मिश्रित कर्म होता है, तब मनुष्य योनि मिलती है। अत: हमारे अपने-अपने कर्मो के अनुसार हमें यह योनि मिली है। इसके लिये ईश्वर उत्तरदायी नहीं है। हम स्वयं अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी हैं। तात्पर्य यह है कि उस आत्मा या परमात्मा की सत्ता के कारण ही इस सृष्टि की रचना हुई है और हम इस सृष्टि में जहाँ हैं, जैसे हैं, वह अपने कर्मों के कारण ही हैं।

अब पाँचवें मन्त्र में उस परमात्मा की व्यापकता के बारे में ऋषि कहते हैं –

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत: ।।५।।

– वह परमात्मा गतिमान है और स्थिर भी है। वह दूर भी है

और अत्यन्त समीप भी है। वह इस संसार के भीतर भी है और बाहर भी है।

तद् – वह परमात्मा। एजति – चलता है, गतिमान है। वह आत्मा तो चलता है, उसमें गति है, फिर तुरन्त कहते हैं कि तन्नैजति – वह नहीं चलता है, स्थिर है। तो एक ही वस्तु चल और अचल कैसे हो सकती है? फिर कहते हैं – तद्-दूरे – वह दूर है। उसके बाद कहते हैं, तद्वन्तिके – वह पास भी है। यद्यपि यहाँ विरोधाभास लग रहा है। किन्तु, पुन: कहते हैं – तद्-अन्त:-अस्य सर्वस्य – वह परमात्मा इस सम्पूर्ण संसार के भीतर है और तदु सर्वस्य-अस्य बाह्यत: – वह इस संसार के बाहर भी है।

आज का भौतिक विज्ञान हमको यह कहता है कि टेबल, कुर्सी, माईक ये सब वस्तुयें जैसी दिखती हैं, वैसी नहीं हैं। ये सिर्फ आभास मात्र हैं। इनके भीतर अणु-परमाणु हैं। यदि यह टेबल ठोस है, तो इसके अणु-परमाणु भी ठोस होंगे, ऐसा नहीं है। यह सब उर्जा का खेल है। एक दृष्टि से जब हम इसे देखते हैं, तो यह ऊर्जा या तरंग है और जब दूसरी दृष्टि से देखते हैं, तो यह ठोस लगता है और तब हम उनकी इस बात पर विश्वास करते हैं। जब हमारे ऋषियों ने कहा कि आत्मा चलती भी है और नहीं भी चलती है, तो हम उसे पागलपन समझते हैं। वस्तुत: इस संसार में अपरोक्ष वस्तुओं को निरपेक्ष दृष्टि से नहीं जान सकते। संसार का सारा ज्ञान सापेक्ष है, इससे हम ईश्वर को भी जानना चाहते हैं। जैसे भगवान का यह चित्र वक्ता की बायीं तरफ है और आपके सामने बैठे श्रोता आपके दाहिनी तरफ हैं। यदि कोई कहेगा कि यह चित्र दाहिनी तरफ ही है, तो मेरे बायीं तरफ होते हुये भी वक्ता उसे कैसे मानेगा? इस सापेक्ष के द्वारा हम निरपेक्ष सत्य को कैसे जान सकेंगे? निरपेक्ष सत्य को जानने के लिये हमको सापेक्ष सत्य से ऊपर उठना पड़ेगा और वह इस अशुद्ध चित्त से, अशुद्ध बुद्धि, मन से सम्भव नहीं है। किन्तु यदि इस मन और बुद्धि को शुद्ध कर लिया जाय, तो यह हमको सापेक्ष सत्य से निरपेक्ष सत्य में ले जायेगा। उस शुद्ध चित्त में मनुष्य को निरपेक्ष सत्य का ज्ञान होता है। अणु-परमाणु में जो सत्ता है, वह क्या है? दूर भी है और निकट भी है। दूर से भी दूर और पास से भी पास है। भगवान शंकराचार्य बताते हैं – यह आत्मा हमारे पास रहती है, फिर भी करोड़ों जन्मों से हमें उसका बोध नहीं हुआ है तथा इसका आनन्द हमें नहीं मिला। जो अज्ञानी हैं, उनके लिये यह आत्मा दूर से भी दूर है। किन्तु भगवान की कृपा से, गुरु-कृपा से जिनको ज्ञान हो गया कि जिस आत्मा को मैं आज तक बाहर ढूँढ़ रहा था, वह तो बाहर नहीं, मेरे भीतर ही है। सबसे निकट यदि कोई हमारा है, तो हमारी आत्मा ही है। वह परमात्मा हमारे हृदय में ही विराजमान है।

आइये, हम व्यावहारिक दृष्टि से सोचें कि कैसे हमारा मन इस सत्ता में प्रतिष्ठित होगा। यदि हम उपनिषद् के इन दो तथ्यों, विचारों पर चिन्तन करें, तो धीरे-धीरे ये भाव हमारे मन में दृढ़ हो जायेंगे। हम अपने कमरे में चित्त शान्त करके बैठें और बैठकर ईशोपनिषद् के इन मन्त्रों के भावार्थ पर चिन्तन करें – वह आत्मा अत्यन्त दूर है और निकट भी है। दूर कहते ही मन जहाँ तक जाता है, वहाँ तक उसे छोड़ दें। उस दौड़ में मन को यह बता दें कि वह आत्मा-परमात्मा जहाँ तक तेरी दौड़ है, वहाँ है और उससे आगे भी है। जब भटकते-भटकते मन थक जाता है, तब वह वापस आ जाता है। जब मन शान्त होकर लौटने लगेगा, तब फिर उसे बतायें कि जो आनन्द तुम बाहर ढूँढ रहे थे, वह बाहर नहीं है। वह तो यहाँ भीतर, हमारे हृदय में है। तब मन हमारे हृदयस्थ परमात्मा में प्रतिष्ठित होने लगेगा। इस प्रकार के चिन्तन से उपनिषद् का वह तत्त्व हमारी समझ में आयेगा।

संसार में जितनी गहराई है, उसमें सबसे अधिक गहराई इस हृदय में है। इसलिये कहा गया है कि सारा ब्रह्माण्ड इस पिण्ड (देह) में है। मनुष्य का यह हृदय या अन्त:करण इतना महान है कि इसमें हिमालय तो सरसों के दाने की तरह है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड इस हृदय में समा सकते हैं। इतने विशाल मनुष्य के हृदय में प्रवेश करने का द्वार भीतर ही है। जो कुछ है, वह भीतर ही है, ऐसा यदि मन को बताया जाय और समयानुसार मन को बाहर से भीतर लाने की चेष्टा की जाय, तो बाहर का जगत छूटता जायेगा। बाहर का जगत जितना ही छूटता जायेगा, भीतर का जगत उतना ही खुलता जायेगा। यह नियम है और उसे हमें आचरण में लाना है। जिस प्रकार निद्रा में बाहर का जगत पूर्णत: छूट जाता है, उसी प्रकार यदि जागृत अवस्था में जगत् मन से पूर्णत: छूट जाय, वही समाधि की अवस्था है। ऐसी समाधि की अवस्था हमारी कब होगी? जब हम भीतर देखेंगे तब होगी। बहुत देर तक मन को भीतर रखना कठिन होता है। तब वह बाहर जाने लगता है और इससे हमारी साधना रुक जाती है। तब उपनिषद कहता है कि अगर मन भीतर रहने से थक जाय, तो मन को यह बार-बार बताओ कि जहाँ-जहाँ बाहर वह जा रहा है, वहाँ-वहाँ वही परमात्मा विराजमान है। इस प्रकार के विचार से हमें जीवन में कुछ दिशा मिलेगी तथा हमारा मन परमात्मा में प्रतिष्ठित होगा। ❖ **(क्रमश:)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (४१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

पठानकोट में

पठानकोट पहुँचकर नगर के बाहर एक पूर्व-परिचित मन्दिर में स्थान ग्रहण किया। रास्ता चलते-चलते थक गया था, अत: बड़ी दुर्बलता महसूस कर रहा था। शाम को पहुँच कर एक कमरे में आसन-कम्बल रखने के बाद पुजारी का आदमी भेजकर थोड़ा-सा दूध मँगवाकर पीया। पुजारी को मलेरिया बुखार हुआ था। पठानकोट के घर-घर में मलेरिया का प्रकोप है – यह सब सुनकर जाकर सोया। थोड़ी देर बाद ही बुखार चढ़ा। उसके बाद बुखार बढ़ता गया और पता नहीं मैं कब बेहोश हो गया।

दूसरे दिन दोपहर को देखा – एक वृद्धा पुकार रही है – "ओ स्वामीजी, क्या आपको बुखार हुआ है? कब आये?" आदि आदि। पहले तो लगा कि सुबह के ७-८ बजे होंगे, परन्तु पूछने पर पता चला कि ३-३/३० बज चुके हैं। उस दिन भिक्षा नहीं हुई थी। और जब पुजारी स्वयं ही बीमार थे, तो करता भी कौन? आदि सुनकर वृद्धा ने थोड़ा-सा दूध ला दिया। हाथ-मुँह धोकर दूध पीने के बाद थोड़ा चंगा महसूस करने लगा, परन्तु तब भी स्वस्थ नहीं हुआ था।

बाहर मन्दिर के सामने बैठा था। बाबू अच्छरमल घोड़े पर चढ़कर किसी काम से जा रहे थे। ये वहाँ के पुराने वकील थे, बार-एसोसियेशन के नेता थे और पठानकोट के आर्यसमाज के अध्यक्ष थे। चम्बा जाने के पूर्व जब यहाँ आया था, तो उनके साथ परिचय हुआ था। उन्होंने पत्र आदि लिखकर डलहौजी के आर्यसमाज में ठहरने की व्यवस्था कर दी थी। बड़े सज्जन व्यक्ति थे। मुझे देखते ही ठहरकर कुशल आदि पूछने पर जब पता चला कि मुझे ज्वर हुआ है और इस प्रकार बेहोश होकर पड़ा था, तो बोले – "समाज में चलिये। वहाँ चिकित्सा आदि होगी। यहाँ रहने से मृत्यु हो जायेगी।" मैं बोला – "यदि अस्पताल में एक जगह मिले तो देखिये, क्योंकि समाज में एक वृद्ध सेवक के सिवा और कोई नहीं है। वह देखभाल नहीं कर सकेगा।" वे अपने काम से न जाकर घर लौट गये। अस्पताल में पूछताछ कराने से पता चला कि वहाँ तिल रखने को भी जगह नहीं है और रोगियों की देखभाल करने को आदमी भी नहीं हैं। वृद्ध मेरी सेवा करने को राजी हुआ, अत: वे गाड़ी लाकर मुझे समाज में ले गये। पथ्य आदि उनके घर से आता। करीब एक माह से भी अधिक भीषण बुखार से आक्रान्त होकर उन लोगों के आश्रय में ही पड़ा रहा – मृत्यु के साथ मानो द्वन्द्व-युद्ध चला था। अन्त में शरीर कंकाल मात्र रह गया था। उस काले उल्लू का कान के पास आवाज करना क्या इसी प्रकार काम कर रहा था! कौन जाने?

डॉक्टर ने आकर ऐसी गरम दवा दी थी कि पूरे शरीर से लवण-सदृश क्षार पदार्थ (शायद अमोनिया) निकलता रहता और शरीर सफेद मैदे से पुता जैसा दीख पड़ता। मैंने उनकी दवा बन्द कर दी और के नीम-कण्ठेश्वर का सेवन करने लगा। अन्त में उसी से बीमारी दूर हुई और देह में बल भी आया। उन वृद्धा के पुत्र की मिठाई की दुकान थी। वे प्रति दिन आकर एक सेर दूध दे जाते। वही विशेष आधार था। नीरोग होने के बाद भी १५-२० दिन समाज में ही रहा।

उसी समय वहाँ एक मुसलमान शुद्ध होने के लिये आया। समाज के मंत्री ने मुझसे कहा कि मैं उसके साथ बात करके देखूँ। बातें करने से लगा कि आदमी अच्छा नहीं है, मतलबी है। वह श्रद्धापूर्वक आर्यधर्म ग्रहण करने नहीं आया था। उसने स्पष्ट रूप से बताया कि वह गरीब है, उसके पास कोई काम-धन्धा नहीं है, मुसलमान लोग भी उसकी कोई सहायता नहीं कर रहे हैं, इसीलिये वह इस आशा में आर्य बनने आया है कि ये लोग उसके लिये किसी रोजगार की व्यवस्था कर देंगे। यह सुनकर मैंने मंत्री से कहा – "इसे शुद्ध करना बिलकुल भी उचित नहीं होगा। यह तो स्पष्ट कह रहा है कि पेट के लिये आया है। ऐसा नहीं लगता कि उसकी धर्म में कोई रुचि है।" परन्तु उत्साह के प्रवाह में मंत्री ने उस बात पर ध्यान नहीं दिया। प्रधानजी के आने पर मैंने उन्हें भी इस बात से अवगत कराया और कहा – दो-चार दिन और उसकी विश्वसनीयता की थोड़ी जाँच-पड़ताल करने के बाद यदि उपयुक्त लगे, तभी शुद्ध करना उचित होगा। वे इससे सहमत तो हुए, परन्तु इतना सब देखने पर शिकार टूट जायेगा, अधिकांश सदस्यों ने यह आशंका दिखाकर निश्चित किया कि विलम्ब न करके यथाशीघ्र उसका शुद्धिकर्म कर दिया जायेगा। परन्तु दैवयोग से एक घटना हुई, जिसके फलस्वरूप सब कुछ उलट गया। अमृतसर से विवाह के

उपलक्ष्य में एक बस लोग पठानकोट के पास के किसी गाँव में आ रहे थे। रेलवे क्रासिंग को पार करते समय एक इंजन के धक्के से बस पलट गयी। इसमें ८-१० लोग मारे गये और करीब उतने ही लोग घायल होकर चिकित्सा के लिये पठानकोट आये। अमृतसर के आर्यसमाज के एक पुरोहित भी उन यात्रियों में एक थे। उन्हें चोट ज्यादा नहीं आयी थी, अतः वे आकर समाज में ही ठहरे थे। जब वे रात में बैठकर मुझे दुर्घटना के बारे में बता रहे थे, तभी वह मुसलमान दो-तीन बार झाँककर चला गया। उन्होंने बातें समाप्त करके पूछा कि वह आदमी कौन है? मैंने उसके बारे में सब कुछ बताया। वे लालटेन लेकर उसे देखने गये और थोड़ी देर बाद ही लौटकर बोले – ''स्वामीजी, यह तो पुराना पापी है। एक बार यह अमृतसर में शुद्ध होने के बाद फिर मुसलमान हो गया। यह बारम्बार शुद्ध होकर फिर मुसलमान हो जाता है। इसे कुछ और चाहिये। इसीलिये यह हिन्दू होकर किसी विधवा का पाणिग्रहण करने की चेष्टा में है।'' पर्दाफास हो गया है, यह जानकर वह मुसलमान उसी रात भाग गया। इसके बाद उसे लेकर खूब हो-हल्ला हुआ और मेरी सलाह पर उन लोगों ने स्वीकार किया कि शुद्धि के उम्मीदवार के घर आदि के बारे में पहले से जानकारी प्राप्त कर लेना ही उचित होगा। मैंने कहा था, ''इस प्रकार की शुद्धि से समाज की उन्नति के स्थान पर अवनति की ही अधिक सम्भावना है। ये सब मतलबी लोग हैं, औरतों की तलाश में आते हैं। एक मिल जाने पर फिर अपने समाज में वापस चले जाते हैं या फिर 'व्यवसाय' करते हैं। इसमें शुद्धि का गौरव कहाँ है? जो शुद्ध होना चाहता है, उसका चरित्र देखना चाहिये, उसके पृष्ठभूमि की जाँच-पड़ताल कर लेनी होगी। उसके बाद कुछ समय तक उसे नियमित रूप से आर्य धर्म के शास्त्र आदि पढ़ाना या सुनाना उचित होगा। इसके बाद यदि उसमें श्रद्धा दिखे, तभी उसकी शुद्धि कराना उचित है।''

पठानकोट से गुरुदासपुर की ओर २०-२५ मील दूर देवराजपुर नाम का एक गाँव है। वहाँ के जागीरदार प्रद्युम्न सिंह तथा एक अन्य विशिष्ट व्यक्ति सिद्धराज कचहरी के किसी कार्य के निमित्त वहाँ आये और समाज के मन्दिर में ठहरे। बातचीत हुई। ''वहाँ की आबोहवा अच्छी है, चलिये। स्वास्थ्य ठीक हो जायेगा।'' आदि कहकर आग्रहपूर्वक वे लोग मुझे अपने गाँव ले गये। गाँव के बाहर प्रद्युम्न सिंह का एक उद्यान-भवन था, जिसमें ऊपर-नीचे मिलाकर तीन कमरे और छोटा-सा बगीचा था। वहीं पर ठहरने की व्यवस्था मुझे पसन्द आयी। उस मकान के सामने दो सौ गज दूर एक नाला था, उसके बाद और भी थोड़ी दूरी पर मस्जिद थी।

चाँदनी रात थी। संध्या के बाद छत के ऊपर बैठकर बातचीत हो रही थी, तभी देखने में आया कि मस्जिद की ओर से हमारी ओर उँगली दिखा-दिखाकर न जाने क्या-क्या कहा जा रहा है। सिद्धराज को भेजा गया कि वे चुपचाप पता लगा आयें कि मामला क्या है? सिद्धराज लौटकर बोले – ''आज रात ये लोग हुल्लड़ करेंगे और आपके ऊपर आक्रमण भी कर सकते हैं, क्योंकि इन लोगों ने आपको समाजी संन्यासी समझ लिया है। यहाँ पर दो शुद्धियाँ हो गयी हैं, दो विधवाओं को लेकर इन लोगों ने मुसलमान बना लिया था, उन्हें फिर से हिन्दू बना लिया गया है। आज उसके विरोध में ये लोग प्रदर्शन करेंगे। वहाँ के इन सब मामलों के कर्ता प्रद्युम्न सिंह स्वयं ही वहाँ बैठे हुए थे। वे तत्काल उठकर अपने घर गये और आधे घण्टे के भीतर लौटकर बोले – ''हमारे घर चलिये। रात वहीं पर रहियेगा। ये लोग आक्रमण कर सकते हैं। सबको तैयार रहने को कहकर आपको लेने आया हूँ।'' इस बार उनके हाथ में बन्दूक थी। सिद्धराज सनातनी थे। मैंने उनसे कहा कि वे जाकर अपने मुहल्ले के लोगों को तैयार रहने को कह दें। वे चले गये। इसके बाद मैंने प्रद्युम्न सिंह से कहा – ''यदि इस संन्यासी के कारण वे लोग आपके मकान पर आक्रमण करें, तो वह बड़े ही दु:ख की बात होगी। अतः अच्छा तो यह होगा कि आप जाकर अपने मुहल्ले की रक्षा की व्यवस्था करें और मैं तो संन्यासी हूँ, भगवान के ऊपर निर्भर करके यहीं रहूँगा, क्योंकि मेरे आगे-पीछे कोई रोनेवाला भी नहीं है। इस विषय में मुझे जरा भी चिन्ता नहीं है।''

पर वे बिलकुल भी सुनने को तैयार न थे। आखिरकार मैंने बलपूर्वक नकार दिया। अनिच्छा के बावजूद उन्हें लौटना पड़ा। काफी देर बाद वे फिर आकर हाजिर हुए – ''मेरी पुत्री कह रही है कि स्वामीजी को ले आओ। मेरे पास तलवार है, मेरे शरीर में प्राण रहते उनका कोई अनिष्ट नहीं होने दूँगी।'' मुझे उनकी पुत्री की वीरोक्ति पर बड़ी खुशी हुई है, यह बताने के साथ ही मैंने फिर मना कर दिया। लड़की १७-१८ साल की रही होगी। उसने अच्छी तरह संस्कृत सीखा था और उसके पिता ने ही उसे लाठी, तलवार आदि से खेलना और लड़ना सिखाया है। उसमें देश-सेविका का भाव था। बाद में मैंने उसे राजपूत इतिहास से दो-एक वीर नारियों की कहानियाँ सुनाकर उन्हीं के समान होने को कहा था।

इस बीच मस्जिद में बड़ी भीड़ एकत्र हो रही थी। डे-लाइट, पेट्रोमेक्स आदि जलाकर जुलूस निकालने की तैयारी चल रही थी। हवा खूब गरम थी। हवा में 'खून' था। प्रद्युम्न सिंह सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे कि उन्होंने देखा २०-२२ साल के दो सिख युवक हाथ में खुली कटार लिये और आँखें लाल किये तेजी से ऊपर चढ़ते हुए कह रहे थे – ''कहाँ हैं महात्मा?'' उन्होंने पूछा – ''क्यों?'' – ''जानते नहीं? उन्हें मुसलमान लोग निश्चित रूप से मार डालेंगे। ये

ठीक हमारे उस शुद्धि के बाद ही आये हैं। आप जानते नहीं, वे लोग बदला लेना चाहते हैं। हम लोग उन्हें लेने आये हैं, अपने गुरुद्वारे में ले जायेंगे। उसके बाद देखा जायेगा। आप लोग तैयार हो रहे हैं न!'' उनसे इतना कहकर वे छत पर मेरे पास आ पहुँचे – ''चलिये, हमारे गुरुद्वारे में।''

पहले प्रद्युम्न सिंह को शीघ्र लौटकर सुव्यवस्था करने को कहकर मैंने उन दोनों को अपने पास बैठाया। पूछने पर पता चला कि मेरे विषय में उन्हें सिद्धराज से पता चला है। इसके बाद यह सुनकर कि मुसलमान लोग एक संन्यासी पर अत्याचार करने को तैयार हैं, वे लोग यहाँ आये हैं। अपने जीवित रहते वे ऐसा नहीं होने देंगे।

पूछने पर पता चला कि उस गाँव में करीब डेढ़ हजार घर मुसलमान, ढाई सो घर हिन्दू और पाँच घर सिख हैं। मैं बोला – ''तुम लोग तो केवल पाँच घर हो। यदि इतने मुसलमान आक्रमण करें, तो क्या करोगे? तुम लोग इतने लोगों के साथ कितना लड़ोगे?'' – ''नहीं स्वामीजी, ऐसा कोई मुसलमान नहीं है, जो इतना साहस कर सके।''

मैं उन दोनों के साथ तर्क कर रहा था और उन्हें समझा रहा था कि क्यों मैंने वह स्थान न छोड़ने का संकल्प किया है। तभी देखने में आया कि एक महिला हाथ में लोटा और लाठी लिये उस मस्जिद के पास से होकर बगीचे की ओर चली आ रही है। इतनी रात गये कौन महिला उधर आ सकती है? उनमें से एक – अर्जुन सिंह बोल उठा – ''अरे, माँ आ रही हैं।'' मैं तो अवाक् रह गया! यदि मुसलमान लोग उनका अपमान करें, तो कैसी आफत हो जायेगी।

वे आयीं और मत्था टेककर एक लोटा दूध रखकर बैठ गयीं। बोलीं – ''बाबाजी, सुना कि आप आये हैं और आक्रमण होगा। बच्चे आये हैं, इसीलिये मैं भी थोड़ा-सा दूध लेकर देखने आयी कि ये लोग क्या कर रहे हैं। और आपको रोटियाँ बनाकर खिलाने का समय नहीं था, इसलिये दूध ले आयी, इसे पी लीजिये।''

मैं बोला – ''देवीजी, आप इस प्रकार क्यों आयीं? यदि मुसलमान लोग अपमान कर देते, तो?''

– ''क्या? किसी के धड़ पर दो सिर है क्या, जो मेरा अपमान करने का साहस करेगा?''

अर्जुन सिंह बोल उठा – ''स्वामीजी, ऐसा कोई आदमी अभी तक नहीं जन्मा, जो हमारी माँ का अपमान कर सके! तत्काल उसे काट डालूँगा।'' उसका साथी चचेरा भाई था, नाम शायद किरतार सिंह था। चुपचाप बैठा था।

मैं उनकी माँ से बोला – ''बच्चों को साथ ले जाइये। मेरे लिये किसी का अनिष्ट हो, यह जरा भी उचित नहीं।''

वीर-जननी बोलीं – ''आपकी रक्षा करते हुए यदि उनकी जान भी चली जाय, तो स्वामीजी, यह हमारे लिये गर्व की बात होगी! आप गुरु हैं, धर्म हैं, आपके ऊपर यदि अत्याचार हुआ, तो हम क्या निश्चिन्त भाव से देखते रहेंगे? ऐसा नहीं होगा, कदापि नहीं हो सकता। ये लोग आपके पास ही रहेंगे।'' यह कहकर गर्वपूर्वक उनकी ओर देखते हुए वे पुनः बोलीं – ''निश्चित जानिये, इनके रहते आपको कोई भय नहीं है।''

वे लोटा हाथ में लेकर उठ खड़ी हुईं। मैंने उनमें से एक जन को साथ जाकर घर तक पहुँचा आने को कहा। वे बोलीं – ''नहीं। मेरे साथ किसी को जाने की जरूरत नहीं। ये लोग यहीं रहेंगे'' – कहकर वीर-जननी चली गयीं।

आर्यभूमि पंजाब में अब भी वही तेज है, जो धर्म के लिये अपनी सन्तान को – सर्वस्व तक बलि देने को प्रस्तुत हो जाता है। यह मैंने प्रत्यक्ष देखा। मेरा जीवन धन्य हो गया।

पुरखों की थाती

ग्रीष्मकाले दिनं दीर्घं शीतकाले तथा निशा।
परोपतापिनः सर्वे प्रायशो दीर्घजीविनः ।।

– गर्मी के मौसम में दिन बड़ा होता है और जाड़े के मौसम में दिन छोटा होता है; इस प्रकार प्रायः देखने में आता है कि दूसरों को दुःख-ताप देनेवाले प्रायः लम्बी आयु प्राप्त करते हैं।

गीत-विद्या-प्रभावेन देवर्षिर्नारदो महान्।
मान्यो वैष्णवलोके वै श्रीशम्भोश्चातिवल्लभः ।।

– देवर्षि नारद संगीतविद्या के प्रभाव से ही महान् हुए; इसी के कारण उन्हें विष्णुलोक में सम्मान मिला और वे शिवजी के भी अत्यन्त प्रिय हुए।

गुणिनि गुणज्ञो रमते
नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः।
अलिरेति वनात्कमलं
न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ।।

– गुणों का पारखी ही गुणवान का आदर करता है, गुणों को न समझनेवाला गुणवान में आनन्द नहीं पाता। कमल का रसास्वादन करने के लिये भ्रमर वन से उड़कर चला आता है, परन्तु उसी तालाब में निवास करनेवाला मेढ़क नहीं आता।

चिता-चिन्ता तयोर्मध्ये चिन्ता एव गरीयसी।
सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता ।।

– चिता और चिन्ता के बीच चिता ही बेहतर है; क्योंकि चिता तो मरने के बाद जलाती है, जबकि चिन्ता तो जीते-जी ही जलाती रहती है।

भारत में जब तक ऐसी नारियाँ, ऐसी माताएँ हैं, तब तक भारत – आर्य भारत सुरक्षित है और सुरक्षित रहेगा। ये हिन्दू ही सिख होते हैं, परन्तु **शिक्षा के गुण से कितना फर्क हो जाता है ! भक्ति के साथ शक्ति का ऐसा सुन्दर विकास होता है !** प्रतिदिन गुरुओं की वाणी का श्रवण करने के कारण उनके अन्तस्थल तक श्रद्धा से परिपूर्ण हो जाता है। मैं एक अज्ञात अपरिचित संन्यासी था, उनके साथ कोई परिचय नहीं, परन्तु संन्यासी गैरिक धारण करता है, इसीलिये उसके लिये जान देने को तैयार हैं। गर्भधारिणी माँ भी धर्मरक्षा के लिये प्राण देने के लिये अपनी सन्तानों को छोड़ गयीं ! यह कितना सुन्दर, कितना महान् भाव है ! मेरे हृदय में क्या भाव आये थे, उन्हें मैं कैसे बताऊँ ! जैसा कि कहते हैं – गर्व से सीना मानो दस हाथ चौड़ा हो गया था। ऐसा ही बोध हुआ था। धर्म की जय ! गुरु की जय ! वाहे गुरु की फतह !

अर्जुन और किरतार दोनों गये नहीं। वे कटार खोलकर मेरे साथ बैठे हुए बीच-बीच में बातें कर रहे थे। परन्तु उनका ध्यान उसी ओर था कि मस्जिद में क्या हो रहा है ! मस्जिद से जुलूस निकला। लोग छाती पीट-पीटकर कोई एक गीत गाते हुए गाँव के बीच में घुसे। इसके बाद सिद्धराज ने आकर कहा – "स्वामीजी, इसी समय या तो इन लोगों की ओर चले जाइये और नहीं तो इस जंगल के रास्ते पठानकोट निकल जाइये। खून-खराबी होने की आशंका है। इनके शान्त हो जाने पर चाहे तो फिर एक बार ...।" मेरा शरीर तिलमिला उठा। कहाँ तो एक महिला आकर जान देने के लिये अपने पुत्रों को छोड़ गयी है और कहाँ ये आकर पलायन करने की सुन्दर युक्ति बता रहे हैं ! धिक्कार है !

मैं बोला – "सिद्धराजजी, आप जाइये और अपने मकान, मुहल्ले की रक्षा में लग जाइये। मैं यहाँ से पलायन नहीं कर सकता। उसकी अपेक्षा मैं मृत्यु का वरण करना कहीं अधिक पसन्द करूँगा। अब चाहे जो भी हो, मैं तो यहीं रहूँगा।"

इतना कहकर उन्हें विदा किया। उन्हीं से सुना कि वे लोग सीना पीट-पीटकर गा रहे थे – "दे दे जान मदीनेवाले कोई?" यह उसकी पहली पंक्ति थी। सुना है कि पैगम्बर मुहम्मद ने मक्का पर आक्रमण करने के पूर्व मदीने शहर में यही गीत गा-गाकर सैनिकों का संग्रह किया था।

काफी रात गये जुलूस लौटा। हम लोग तब भी बैठे ही हुए थे। समझ में आया कि मस्जिद में सबके एकत्र हो जाने पर फिर कोई गरम चर्चा चल रही है। बीच-बीच में अंगुली से संकेत करके शायद नये लोगों को दिखाया जा रहा था – वहाँ छत पर दो लोग हैं।

भोर हुई। अभी-अभी अरुणोदय हुआ था। देखने में आया कि जंगल की ओर से घुड़सवार पुलिस का एक दस्ता चला आ रहा है। रास्ता उस उद्यान-भवन के पास से ही होकर गुजरता था। निकट पहुँचते ही पुलिस-इंस्पेक्टर बोल उठे – "स्वामीजी, नमस्ते ! यहाँ कब आये?" इन सिख इंस्पेक्टर के साथ पठानकोट में ही परिचय हुआ था।

मैंने उन्हें बुलाते हुए कहा – "सरदारजी आइये। दो बातें सुनते जाइये !"

वे ऊपर आये और उन दोनों को (नंगी कटार लिये बैठे) देखकर थोड़ा घबड़ा गये। मैं बोला – "ये मेरी रक्षा करने के लिये सारी रात इसी प्रकार बैठे हुए हैं।" इसके बाद मैंने उन दोनों से आद्योपान्त सब कुछ सुनाने को कहा। उनकी बातें सुनने के बाद इंस्पेक्टर बोले – "अच्छा, तो मैं सब ठीक कर देता हूँ। आप निश्चिन्त रहिये। यहाँ से जाने के पहले एक बार फिर मैं आपसे मिलकर जाऊँगा।"

एक घण्टे के बाद देखा कि मस्जिद के मुल्लाजी, ग्राम के मुखिया तथा और भी दो-एक मुसलमानों को साथ लेकर चले आ रहे हैं। उन लोगों ने आते ही क्षमा माँगना शुरू कर दिया – "बड़ी गलती हो गयी है, क्षमा कर दीजिये ! हमने सोचा था कि फिर कोई आर्य संन्यासी आया है !"

मैं बोला – "यह कैसी बात ! यदि कोई आर्य संन्यासी ही आया होता, तो क्या आप लोगों का वैसा आचरण उचित होगा? यदि आप लोग हिन्दू को मुसलमान कर सकते हैं, तो हिन्दू को भी मुसलमान से हिन्दू बनाने का अधिकार है। यह तो समान आचरण होगा। इसके लिये क्या किसी को हुल्लड़ या खून-खराबा करने के लिये लोगों को उत्तेजित करने का अधिकार मिल जाता है?

इंस्पेक्टर ने भी उन पर दबाव डालते हुए कहा – "दिन-रात पहरे की व्यवस्था कीजिये, और ध्यान रखिये कि इनके ऊपर कोई जुलुम न कर बैठे।" और मुल्लाजी ने मस्जिद में लौटकर एक सूचना देकर सबको उत्तरदायित्व सौंप दिया था। उसके बाद मैंने देखा कि दो-दो मुसलमान भाई पहरा दे रहे हैं और जो देखते ही सलाम मारते हैं। आठ-दस दिन वहाँ रहा। एक दिन भगवत्-प्रसंग भी हुआ था, जिसमें बहुत से मुसलमान श्रोता भी उपस्थित थे। इसके बाद उनकी तरफ से बारम्बार यही प्रश्न होने लगा – "कब जायेंगे महात्माजी?" ऐसी अवस्था में वहाँ पर अधिक दिन रहना वांछनीय न समझकर फिर पठानकोट लौट गया। वहाँ पाँच-सात दिन रहकर सक्कर तथा हैदराबाद होते हुए कराची गया।

❖ **(क्रमशः)** ❖

समुद्रयात्रा : जापान से वैंकुवर

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

चीन तथा जापान की अन्य बातें

शिकागो के विश्व-धर्म-महासभा में भाग लेने के लिये अमेरिका जाते समय स्वामीजी ने मार्ग में केवल कुछ सप्ताह ही चीन तथा जापान में बिताये थे। इन महान् देशों की संक्षिप्त यात्रा ने भी उनके मन पर बड़ी गहन छाप छोड़ी थी। परवर्ती काल में उन्होंने कई बार अपने इस काल के अनुभवों का उल्लेख किया था। कुछ प्रसंग प्रस्तुत हैं –

स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द ने बताया था – "स्वामीजी को कला से बड़ा प्रेम था। पहली बार अमेरिका जाते समय वे जापान में उतरकर जापान का सौन्दर्य-बोध देखकर मुग्ध हुए थे। उसकी बड़ी प्रशंसा करते हुए वे कहते – एक चित्र की कीमत थी छह हजार रुपये। वह चित्र इतना सुन्दर था कि सोचा – अब अमेरिका जाने की जरूरत नहीं है। पास में जो कुछ है, उससे उस चित्र को खरीदकर कोलकाता लौट जाऊँ।"[१]

स्वामीजी की निरीक्षण-शक्ति के विषय में बोलते हुए एक बार उनके गुरुभाई स्वामी सारदानन्द ने कहा था – "स्वामीजी की निरीक्षण की शक्ति कितनी प्रबल थी ! भिक्षा करते हुए विभिन्न प्रान्तों में घूम रहे थे, हम लोग भी उन स्थानों में गये हैं; पर उन्होंने उन स्थानों को इसने सूक्ष्म रूप से देखा और याद रखा कि जब वे हमें उनके बारे में बताते, तो हम अवाक् रह जाते। ...

"जापान होकर अमेरिका जाते समय वे जापान के किसी-किसी नगर में उतरे थे, परन्तु इसी बीच उन्होंने जापान के भीतर की हालत देखकर कहा था, 'जापान यूरोप के किन्हीं भी दो देशों की सम्मिलित शक्ति के साथ लड़ने की क्षमता अर्जित करके युद्ध के लिये तैयार है। अब वह केवल अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता की प्रतीक्षा कर रहा है।' देखता हूँ कि 'द निउ ओरियेंट' (अभिनव प्राची) पत्रिका में एक साहब ने भी स्वामीजी की इसी उक्ति को उद्धृत करके उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति की प्रशंसा की है। सम्भवत: स्वामीजी ने उनसे यह बात कही थी। दो-चार दिन देखकर ही किसी राष्ट्र की नाड़ी को समझ लेना आसान बात नहीं है।"[२]

११ मार्च १८९८ को कोलकाता में 'इंग्लैंड पर भारतीय विचारों का प्रभाव' विषय पर बोलते हुए स्वामीजी ने कहा था – "जब मैं एशिया के पूर्वी अंचल में भ्रमण कर रहा था, तब एक विषय की ओर मेरी दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट हुई थी। मैंने देखा कि उन स्थानों में भारतीय आध्यात्मिक विचार व्याप्त हैं। चीन और जापान के कितने ही मन्दिरों की दीवारों के ऊपर कई सुपरिचित संस्कृत मंत्रों को लिखा हुआ देखकर मैं कितना विस्मित हुआ था, यह तुम लोग आसानी से समझ सकते हो। यह सुनकर शायद तुम्हें और भी आश्चर्य होगा, और कुछ लोगों को सम्भवत: प्रसन्नता भी होगी कि वे सब मंत्र पुरानी बँगला लिपि में लिखे हुए हैं। बंगाल में हमारे पूर्वजों का धर्म-प्रचार में कितना उत्साह और स्फूर्ति थी, मानो यही बताने के लिये आज भी वे मंत्र उन पर स्मारक के रूप में मौजूद हैं।" उसी व्याख्यान में वे आगे कहते हैं – "भारत का विनाश नहीं है, चीन का भी नहीं है और जापान का भी नहीं है।"[३]

अपनी यूरोप यात्रा के संस्मरण में बताते हैं कि चीनी और जापानी बौद्ध शिव की पूजा करते हैं। "चीन और जापान के सब मन्दिरों की दीवार पर 'ॐ ह्रीं क्लीं' आदि बड़े-बड़े सुनहरे अक्षरों में लिखा है। वे अक्षर बँगला के इतने नजदीक हैं कि साफ समझ में आ जाते हैं।"[४]

सरला घोषाल के नाम एक पत्र में उन्होंने लिखा था – "जापान में मैंने सुना कि वहाँ की लड़कियों को यह विश्वास

१. स्वामी अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि (बँगला), सं. स्वामी चेतनानन्द, कोलकाता, सं. १९९९, पृ. ५९, तथा ८४-८५

२. श्रीश्री सारदानन्द प्रसंग, (बँगला ग्रन्थ) सम्पादक – ब्रह्मचारी अक्षय चैतन्य, सं. बंगला १३४२, वाराणसी, पृ. १४३-४४; स्वामी सारदानन्देर स्मृतिकथा, सं. स्वामी चेतनानन्द, उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता, सं. २००६, पृ. ३०४

३. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड ५, पृ. ३३१, ३३४

४. वही, खण्ड ८, पृ. १७६

है कि यदि उनकी गुड़ियों को हृदय से प्यार किया जाय तो वे जीवित हो उठेंगी। जापानी बालिका अपनी गुड़िया को कभी तोड़ती नहीं। हे महाभागे, मेरा भी विश्वास है कि यदि इन हतश्री, अभागे, निर्बुद्धि, पददलित, चिर बुभुक्षित, झगड़ालू और ईर्ष्यालु भारतवासियों को भी कोई हृदय से प्यार करने लगे, तो भारत पुन: जाग्रत हो जायेगा।''[५]

बाद में उन्होंने चीन के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किये थे। यह पूछे जाने पर कि 'क्या कभी कोई राष्ट्र महान् सैनिक शक्ति बने भी महान् हो सका है?' स्वामीजी ने कहा था – ''हाँ, चीन हुआ है। अन्य देशों के साथ ही मैंने चीन और जापान की भी यात्रा की है। चीन आज एक अव्यवस्थित भीड़ के समान है, परन्तु जब वह अपनी महानता के शिखर पर था तब उसका तत्कालीन संगठन अन्य सब देशों से अधिक प्रशंसनीय था। वे बहुत-सी तकनीकें तथा विधियाँ जिन्हें हम आधुनिक कहते हैं, चीनियों द्वारा सैकड़ों-हजारों वर्षों से इस्तेमाल की जा रही हैं। प्रतियोगिता परीक्षा इसका एक उदाहरण है। ... परन्तु वह ऐसे क्षमतावान लोग नहीं पैदा कर सका, जो इस व्यवस्था को चालू रखते। आपके यहाँ (इंग्लैंड में) एक कहावत है कि पार्लियामेंट के कानून से पुण्यात्मा नहीं बनाया जा सकता। यह अनुभव चीनियों ने आपसे पहले ही प्राप्त कर लिया था।''[६]

जापान सम्बन्धी अपने ज्ञान का कुछ विवरण स्वामीजी ने १८९७ ई. में चेन्नै के 'हिन्दू' अखबार के संवाददाता के साथ साक्षात्कार के समय प्रश्नोत्तर के रूप में दिया था –

प्रश्न – ''आपने जापान में क्या देखा? भारत भी जापान के प्रगतिशील मार्ग पर चले – क्या ऐसी सम्भावना है?''

उत्तर – बिल्कुल नहीं, जब तक कि भारत के तीस करोड़ लोग एक अखण्ड राष्ट्र की भाँति परस्पर मिल नहीं जाते, तब तक ऐसा सम्भव नहीं है। संसार में मैंने जापानियों की भाँति देशभक्त और कलाप्रिय जाति नहीं देखी; और उनकी एक विशेषता यह है कि जहाँ यूरोप और दूसरे देशों में कला, साधारणतया गन्दगी से युक्त पायी जाती है, जापान में कला का अर्थ होता है कला + परम स्वच्छता। मेरी इच्छा है कि हमारे देश का प्रत्येक नवयुवक अपने जीवन में कम-से-कम एक बार जापान जरूर जाय। वहाँ जाना बड़ा सहज है। जापानी समझते हैं कि हिन्दुओं की हर वस्तु महान् है; और विश्वास करते हैं कि भारत पवित्र भूमि है। लंका में हमें जो दिखायी देता है, जापानी बुद्ध-मत उससे बिल्कुल भिन्न है। वह बिल्कुल वेदान्त है। वह लंका का नकारात्मक निरीश्वरवादी बुद्धमत नहीं, सकारात्मक और ईश्वरवादी बुद्धमत है।

५. वही, खण्ड ६, पृ. ३०७

६. वही, खण्ड ४, पृ. २४०-४१, २३४

प्र. – ''जापानियों की हठात् महानता की कुंजी क्या है?''

उ. – ''जापानियों का आत्म-विश्वास और स्वदेश-प्रेम। जब आपके पास ऐसे व्यक्ति होंगे, जो अपना सब कुछ देश के लिये होम कर देने को तैयार हों, भीतर तक एकदम सच्चे; जब ऐसे लोग उठेंगे, तब भारत प्रत्येक दृष्टि से महान् हो जायेगा। मनुष्य ही देश को महान् बनाते हैं। ... यदि आप जापानियों की सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता को ग्रहण कर लेते हैं, तो आप भी जापानियों जितने ही महान् हो जायेंगे। जापानी अपने देश के लिये सब कुछ बलिदान करने को तैयार हैं और वे एक महान् राष्ट्र बन गये हैं। पर आप ऐसे नहीं हैं और आप ऐसे नहीं बन सकते; आप आपना सब कुछ केवल अपने परिवारों और अपनी सम्पत्ति के लिये ही बलिदान कर सकते हैं।''

प्र.–''क्या आप चाहेंगे कि भारत जापान जैसा हो जाय?''

उ.–''कदापि नहीं। भारत को वही रहना चाहिये, जो वह है। भारत कभी जापान के समान कैसे हो सकता है और वस्तुत: कोई भी देश उसके समान कैसे हो सकता है? संगीत के समान ही प्रत्येक राष्ट्र का एक मूल सुर होता है, एक केन्द्रीय विषय-वस्तु होती है, जिस पर अन्य सब बातें घूमती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है, अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता है धर्म। समाज-सुधार तथा अन्य बातें गौण हैं। अत: भारत जापान जैसा नहीं हो सकता। कहते हैं कि जब हृदय को ठेस लगती है, तो भावनाएँ उमड़ पड़ती हैं। भारत के हृदय को ठेस पहुँचनी चाहिए और उससे आध्यात्मिकता का प्रवाह फूट निकलेगा। भारत भारत है। हम जापानियों जैसे नहीं हैं। हम हिन्दू हैं। भारत की आबोहवा ही शान्ति देनेवाली है।''[७]

स्वामीजी ने अपने बाल्यबन्धु श्री प्रियनाथ सिन्हा के साथ वार्तालाप के दौरान भी जापान के विषय में कुछ विचार प्रकट किये थे। वे बोले – ''मुझे यदि कुछ अविवाहित ग्रैजुएट मिल जायँ, तो मैं उन्हें जापान भेजकर तकनीकी शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध कर दूँगा, ताकि जब वे स्वदेश लौटें, तो अपने ज्ञान से भारत का कुछ हित कर सकें।''

प्रश्न – ''महाराज, इंग्लैंड की अपेक्षा जापान जाना क्या हमारे लिये ज्यादा लाभदायक होगा?''

स्वामीजी – ''अवश्य ! मेरे मतानुसार हमारे शिक्षित तथा धनी लोग यदि जापान जायें और वहाँ का हालचाल देखें, तो उनकी आँखें खुल जायेंगी। ... जापान में तुम पाओगे कि उन्होंने दूसरों से जो भी सीखा है, उसे आत्मसात् करके अपना बना लिया है, पचा लिया है। हमने जो विदेशियों से सीखा, उसे हम पचा नहीं पाये। उन्होंने यूरोपवासियों की हर

७. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड ४, पृ. २४९-५०

चीज ग्रहण की, पर वे जापानी बने रहे, यूरोपीय नहीं बने; पर हमारे यहाँ तो पाश्चात्य ढंग से रहने का एक संक्रामक रोग पैदा हो गया है।''

सिन्हा – ''महाराज, मैंने कुछ जापानी चित्रकला के नमूने देखें हैं, उनकी कला की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। और उनकी प्रेरणा का स्रोत उनकी अपनी संस्कृति है।''

स्वामीजी – ''बिल्कुल ठीक। आज जापान एक महान् राष्ट्र है और इसका कारण है उसकी कला। देखते नहीं, हमारे समान वे भी एशियावासी हैं और यद्यपि आज हम आपना सर्वस्व खो बैठे हैं, तो भी जो कुछ हमारे पास अवशेष है, वही विश्व को चकित कर देने के लिये काफी है। एशिया की आत्मा ही कलात्मक है – एशिया का हृदय चिर काल से कला की क्रीड़ास्थली रहा है। एशियावासी कलाहीन वस्तु का उपयोग ही नहीं करता – उसके उपयोग की हर वस्तु कला से शोभित है। तुम नहीं जानते, हमारे यहाँ कला हमारे धार्मिक जीवन का एक अंग बन गयी है? हमारे देश में कोई युवती तीज-त्यौहार, पर्व-उत्सव के दिन यदि घर के आँगन और भीत पर चावल के पीठे से सुन्दर चित्र बनाना जानती है, तो उसकी कितनी प्रशंसा होती है !'' उसी वार्तालाप के दौरान स्वामीजी ने जापानियों के भोजन के बारे में कहा था – ''भोजन ऐसा रहे कि परिमाण में कम, पर पुष्टिकारक हो।... जापानियों को देखो, वे दिन में दो-तीन बार दाल के साथ भात खाते हैं। वे कई बार भोजन करते हैं, पर हर बार खाते थोड़ा-थोड़ा ही हैं। शरीर से तगड़े लोग भी एक बार में कम ही खाते हैं, कई बार भले ही खा लें। उनमें जो अच्छे घर के होते हैं, वे प्रतिदिन मांस भी खाते हैं।''[८]

२७ अप्रैल, १८९७ को एक पत्र में लिखा था – ''अच्छे और पौष्टिक भोजन से क्या-क्या हो सकता है, जापान इसका प्रत्यक्ष उदारहण है।''[९]

अपनी कश्मीर यात्रा के दौरान उन्होंने जापान के प्रति उद्‌गार व्यक्त करते हुए भगिनी निवेदिता से कहा था – ''... कोई भी राष्ट्र कभी भी जापानियों के समान स्वदेश-प्रेम को पराकाष्ठा तक नहीं ले जा सका। वे लोग बातों से नहीं, कार्य से दिखाते हैं – देश के लिये सर्वस्व त्याग देते हैं। जापान के सामन्त वर्ग में आज भी ऐसे लोग हैं, जिन्होंने साम्राज्य की अखण्डता स्थापित करने के लिये चुपचाप अपनी जागीरदारी छोड़ दी और किसानों का जीवन बिताने लगे। और जापानी युद्ध में एक भी देशद्रोही नहीं मिला।''[१०]

काफी काल बाद १८ जून १९०१ ई. में उन्होंने कु. जोसेफीन मैक्लाउड के नाम एक पत्र में लिखा था – ''तुम्हारा कहना सचमुच ही सत्य है कि हमें जापान से बहुत कुछ सीखना होगा। जापान हमें जो कुछ सहायता प्रदान करेगा, वह अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण तथा श्रद्धा से ओतप्रोत होगी; परन्तु पाश्चात्य सहायता का रूप सहानुभूतिरहित तथा अभावात्मक होगा। जापान तथा भारत के बीच सम्बन्ध स्थापित होना नितान्त वांछनीय है।''[११] उसी दिन उन्होंने जापान के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री ओकाकुरा को लिखा – ''जापान मेरे लिये एक स्वप्न है, इतना सुन्दर कि वह आदमी को सारे जीवन याद आता रहे।''[१२]

वर्तमान भारत में वे लिखते हैं – ''महा बलवान चीन हम लोगों के सामने ही बड़ी शीघ्रता से शुद्रत्व को प्राप्त हो रहा है और नगण्य जापान हवा की तरह शुद्रत्व को झाड़ता हुआ ऊँची जातियों का अधिकार ले रहा है।''[१३]

सहयात्री जमशेदजी टाटा

स्वामीजी का जापान से वैंकुवर की समुद्र-यात्रा के समय भारत के विख्यात व्यवसायी जमशेदजी टाटा उनके सहयात्री थे। निश्चित रूप से तो नहीं मालूम, परन्तु स्वामीजी से उनकी मुलाकात सम्भवत: किसी कारखाने या होटल में हुई थी। बाद में श्री टाटा ने भगिनी निवेदिता को बतलाया था कि स्वामीजी जब जापान में थे तो वहाँ के लोग भगवान बुद्ध के साथ उनका सदृश्य देखकर ठगे-से रह गये थे। सम्भवत: जापान में ही परिचय हो जाने के कारण दोनों ने एक साथ ही जापान से कनाडा तक की यात्रा की थी। उनका 'एम्प्रेस ऑफ इंडिया' नामक जलयान १४ जुलाई को याकोहामा से चलकर २५ जुलाई को वैंकुवर पहुँचा। ११-१२ दिनों की इस सहयात्रा के फलस्वरूप उनके बीच प्रगाढ़ घनिष्ठता उत्पन्न कर दी थी। उनके बीच शिक्षा तथा उद्योग के विस्तार के सम्बन्ध में जो चर्चाएँ हुई थीं, उनका विस्तृत विवरण तो नहीं, तथापि यत्र-तत्र थोड़ा आभास अवश्य मिलता है।

कई वर्ष बाद श्री टाटा ने बैंगलोर में प्रस्तावित अपने इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ साइंस प्रकल्प के विषय में २३ नवम्बर १८९८ ई. एसप्लेनेड रोड, मुम्बई से अपनी उक्त यात्रा के दौरान हुई चर्चा की याद दिलाते हुए लिखा था –

''प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

आशा है आपको जापान से शिकागो तक के अपने इस सहयात्री की याद होगी। आपके वे विचार मुझे अब विशेष रूप से स्मरण हो रहे हैं कि भारतवर्ष में त्याग-तपस्या का

८. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड ८, पृ. २३४-३६

९. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड ६, पृ. ३१४

१०. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, भगिनी निवेदिता, पृ. ९९

११. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड ८, पृ. ३७५-७६

१२. 'Japan to me is a dream – so beautiful that it haunts one all his life.' (Comp. Works. IX p. 159)

१३. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड ९, पृ. २१९

जो आदर्श पुन: जाग्रत हो रहा है, हमारा उद्देश्य उसे नष्ट करना नहीं है, बल्कि उसे रचनात्मक पथों पर परिचालित करने की विशेष आवश्यकता है।

आपके उन विचारों का स्मरण मैं अपने विज्ञान शोध-संस्थान के संदर्भ में कर रहा हूँ, जिसके बारे में आपने अवश्य ही सुना या पढ़ा होगा। मेरी राय में यदि ऐसे आश्रमों या आवास-गृहों की स्थापना की जाय, जहाँ कि त्याग-व्रत धारण करने वाले सादा जीवन बिताते हुए, भौतिक व मानवीय विज्ञानों की चर्चा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दें, तो त्याग भावना की इससे अच्छी उपयोगिता सम्भव नहीं।

मुझे लगता है कि इस तरह के जेहाद का उत्तरदायित्व यदि कोई योग्य नेता उठा ले, तो इससे धर्म व विज्ञान दोनों की ही प्रगति होगी तथा हमारे देश की कीर्ति भी फैलेगी। इस अभियान को विवेकानन्द से बढ़कर और कौन नेतृत्व दे सकेगा? क्या आप इस पथ पर हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं को नवजीवन प्रदान करने में आत्मनियोग कर सकेंगे? इस दिशा में जन-जागरण लाने के निमित्त संभवत: सर्वप्रथम आप अपनी अग्निमयी वाणी में एक पुस्तिका लिखेंगे, जिसके प्रकाशन का व्यय-भार मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा। ससम्मान,

आपका विश्वस्त, *जमशेदजी एन. टाटा*[१४]

फिर अमेरिका पहुँचकर उन्होंने अगस्त के अन्त में जो कतिपय व्याख्यान दिये थे, उनमें से एक का विवरण देते हुए एक समाचारपत्र ने लिखा था, "वक्ता ने बतलाया कि उनका उद्देश्य अपने देश में संन्यासियों का औद्योगिक कार्यों के निमित्त संगठन करना है, जिससे कि वे जनता को इस औद्योगिक शिक्षा का लाभ उपलब्ध करा सकें और इस प्रकार उन्हें उन्नत कर सकें तथा उनकी दशा सुधार सकें।"

उपरोक्त उद्धरणों से लगता है कि उन दिनों स्वामीजी के मन में निम्नलिखित विचार आन्दोलित हो रहे थे –

(१) संन्यासियों का एक ऐसा संघ बनाया जाय, जिसके सदस्य आम जनता के बीच जाकर आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-ही-साथ भौतिक विज्ञान की जानकारी भी दें। अपनी इस योजना का उल्लेख उन्होंने बाद के अपने कई पत्रों में किया है। (२) भारत की शिक्षा-प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन लाया जाय। यहाँ के नवयुवकों को चीन-जापान तथा यूरोप-अमेरिका के अन्य नगरों में भेजकर उन्हें वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा दिलायी जाय और भारतवर्ष में भी केवल क्लर्क बनानेवाली शिक्षा के स्थान पर चरित्र-निर्माण करनेवाली और उद्योग-धन्धे सिखानेवाली शिक्षा का प्रचलन किया जाय। बाद में भी उन्होंने एक बार वार्तालाप के दौरान कहा था, "यदि मुझे कुछ अविवाहित ग्रैजुएट मिल जायँ, तो मैं उन्हें जापान भेजकर यांत्रिक शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध कर दूँगा, ताकि जब वे स्वदेश लौटें, तो अपने ज्ञान से भारत का कुछ हित कर सकें।" (३) भारत का धनिक-वर्ग भारत में उन्नत कृषि तथा औद्योगिक विकास में पूँजी निवेश करे। एक अन्य समय उन्होंने कहा था कि भारतीय व्यवसायी वर्ग केवल विदेशी माल के व्यापार के स्थान पर यदि अपना धन कल-कारखाने खोलने में लगायें, तो इससे देश की भलाई भी होगी और उनका मुनाफा भी बढ़ेगा।

स्वामीजी ने टाटा से सम्भवत: इन्हीं विषयों पर चर्चा की थी। कहते हैं कि एक दिन स्वामीजी ने उनसे कहा, "आप जापान से दियासलाई लाकर अपने देश में बेचकर जापान को धन क्यों दे रहे हैं? आपको तो इसमें मामूली-सा कमीशन मात्र मिलता है। इससे अच्छा तो यह होता कि आप देश में ही दियासलाई के कारखाने लगाते। इससे बहुत-से लोगों को रोजगार भी मिलेगा और देश का धन देश में ही रह जायेगा।" स्मरणीय है कि तब तक श्री टाटा की कपड़े की दो मिलें मात्र थीं, बाद में उन्होंने क्रमश: अन्य उद्योग आरम्भ किये और भारत में इस्पात-उद्योग की आधारशिला रखी।

महेन्द्रनाथ दत्त बताते हैं कि उन दिनों स्वामीजी ने जापान से खेतड़ी के राजा अजीत सिंह को जापान से जो कई पत्र लिखे थे, उनमें उन्होंने जापान की शिल्पकला तथा टाटा के साथ हुई इन चर्चाओं का भी कुछ विवरण दिया था, परन्तु दुर्भाग्यवश वे सभी पत्र खो चुके हैं।[१५]

स्वामीजी की इस समुद्र-यात्रा की एक अन्य रोचक तथ्य यह है कि स्वामीजी ने जब मुम्बई से प्रस्थान किया उस समय गर्मी का मौसम मई का महीना चल रहा था। खेतड़ी-राजा के निजी सचिव मुंशी जगमोहन लाल ने उन्हें बाजार में ले जाकर रेशमी वस्त्र आदि सिलवा दिये थे, परन्तु उस समय किसी को ख्याल नहीं आया कि स्वामीजी जब जापान तथा अमेरिका पहुँचेंगे, तो वहाँ का मौसम कैसा होगा और वहाँ उन्हें कैसे वस्त्रों की आवश्यकता होगी। अत: वे गरम कपड़े लेकर नहीं गये थे। बाद में (२०-८-९३) एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा है – "मुझे प्रशान्त महासागर के उत्तरी हिस्से में होकर जाना पड़ा। ठण्ड बहुत थी। गरम कपड़ों के अभाव से बड़ी तकलीफ हुई।" इसी प्रसंग में महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है – "जहाज के कप्तान को जब स्वामीजी के इस कष्ट की जानकारी मिली, तो उसने अपना ही गरम लबादा आदि स्वामीजी को पहना दिया।"[१६]

❖ (क्रमशः) ❖

१४. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, प्र. सं., खण्ड ३, पृ. १५४

१५. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजी जीवनेर घटनावली, महेन्द्रनाथ दत्त, तृतीय संस्करण, खण्ड ३, पृ. १-३

१६. वही, पृ. २
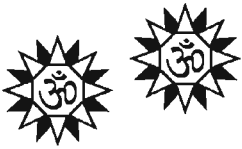
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
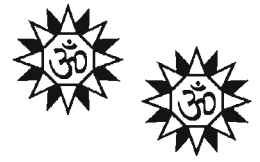
माड स्टम

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९५ ई. पतझड़ का मौसम था। पेरिस[१] में श्रीमती लेगेट के बैठकखाने में मैंने उन्हें पहली बार देखा। उस समय उनके पीठ के पीछे से रोशनी आ रही थी। परिचय कराते समय उनका जो नाम बताया गया, उसकी मैं धारणा नहीं कर सकी, परन्तु इस समय मैं उनकी बगल में बैठी हुई थी। उन्होंने पूछा कि क्या मैं फ्रांसीसी भाषा जानती हूँ। मेरे 'नहीं' कहने पर वे बोले – 'मैं भी नहीं जानता।' मैंने उनसे पूछा कि क्या उनके मतानुसार आनेवाले विश्व में अंग्रेजी ही सर्वप्रमुख भाषा होगी, क्योंकि अंग्रेज ही एक उभरते राष्ट्र प्रतीत हो रहे थे! उनका उत्तर विस्मयजनक था – "पृथ्वी का नेतृत्व करनेवाली आगामी महान् शक्ति, या तो तातार होगी अथवा निग्रो।" और उन्होंने इसके कारण भी बताये। मैंने पाया कि वे दशाब्दियों या शताब्दियों के परिप्रेक्ष्य में नहीं, अपितु इतिहास के अपने ज्ञान के अनुसार युगों-युगों तक चलनेवाले विभिन्न राष्ट्रों के उथल-पुथल पर विचार करके ही अपना मत देते हैं।

मैंने पता लगाया कि ये गम्भीर आवाजवाले व्यक्ति कौन हैं! मालूम हुआ कि ये एक प्राच्य-देशीय महात्मा स्वामी विवेकानन्द हैं। इसके काफी काल बाद इटली की सेना के श्रेष्ठ जवान अबीसीनिया के निग्रो लोगों द्वारा समाप्त कर डाले गये थे और तब मुझे उस भविष्यवाणी की याद हो आयी, जो उस समय इतनी असम्भव प्रतीत हुई थी!

इन अद्‌भुत मेहमान के अलावा वहाँ और भी तीन लोग थे, जिनमें बॉस्टन की एक युवती थी, जिसे (शिकागो के) विश्व-मेले में "Hymn of the Republic" (प्रजातंत्र की स्तुति) गाने के लिये पुरस्कार मिल चुका था। वह युवती छोटे कद की थी और सीधी बैठकर बड़ी सावधानी से सुन रही थी। स्वामीजी संस्कृत के श्लोक सुनाकर उनका अनुवाद करते हुए भारत के प्राचीन गौरव का बोध करा रहे थे। किसी में भी साहस न था कि उन्हें बीच में टोके। अन्ततः वे बोले – "आध्यात्मिकता में आज भी हिन्दू ही विश्व में सर्वश्रेष्ठ है।"

इस पर बॉस्टन की उस युवती ने बाधा डालते हुए कहा – "परन्तु स्वामीजी, आपको यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभ्यता की दृष्टि से भारत की आम जनता यहाँ की, उदाहरण के लिये मेसाचुसेट्स के आम लोगों की तुलना में काफी नीचे है; समाचार-पत्रों के विवरण ही देख लीजिये न!"

स्वामीजी को मानो उनकी कवित्वपूर्ण उड़ानों से नीचे उतर आना पड़ा। उन्होंने अपनी महान् आँखें उठायीं और चुपचाप उसकी ओर देखा। इसके बाद वे बोले – "हाँ, बॉस्टन एक बड़ी सभ्य जगह है। एक अज्ञात देश में एक अज्ञात आदमी के रूप में एक बार मैं वहाँ जा पहुँचा था। मेरा कोट ऐसा ही लाल रंग का था और मैंने एक पगड़ी पहन रखी थी। मैं नगर के एक व्यस्त इलाके से होकर सड़क पर चल रहा था, तभी मुझे बोध हुआ कि बहुत-से पुरुष तथा लड़के मेरा पीछा कर रहे हैं। मेरे द्वारा अपनी चाल बढ़ाने पर उन लोगों ने भी वैसा ही किया। तभी मेरे कन्धे पर किसी चीज से प्रहार किया गया और मैं दौड़ने लगा। एक कोने पर पहुँचकर मैं एक अँधेरी गली में घुस गया और पूरी भीड़ मेरा पीछा करती हुई आगे चली गयी। मैं सुरक्षित बच गया!" निष्कर्ष के रूप में वे बोले – "हाँ, मेसाचुसेट्स एक अत्यन्त सभ्य स्थान है!"

इस पर भी वह छोटी महिला चुप नहीं बैठी, अपने अद्‌भुत साहस का परिचय देते हुए वह अपनी आवाज को चढ़ाकर बोली – "परन्तु स्वामीजी, यदि कोई बॉस्टन-वासी कोलकाता पहुँच जाता, तो वहाँ भी तो ऐसा ही दृश्य देखने में आता!" उन्होंने उत्तर दिया – "ऐसा असम्भव है, क्योंकि हमारे यहाँ अपने द्वार पर आये किसी अपरिचित के प्रति सौम्य उत्सुकता दिखाना भी अक्षम्य माना जाता है, और खुली शत्रुता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।"

इसके बाद १८९९ ई. में जब वे स्वामी तुरीयानन्द के साथ न्यूयार्क आये, उस समय मैंने उन्हें दूसरी बार देखा।

१. न्यूयार्क के मेट्रोपॉलिटन क्लब में १८९६ ई. में श्रीमती फ्रांसिस लेगेट द्वारा आयोजित निशाभोज में उनकी स्वामीजी से प्रथम भेंट हुई।

अगस्त की एक सुबह श्रीमती कॉल्सटन तथा मैंने न्यूयार्क के बन्दरगाह में जाकर उन्हें एक छोटे-से स्टीमर की सीढ़ियों से नीचे उतरते देखा। वे थके हुए दीख रहे थे। मैंने सिडनी क्लार्क को तार भेज दिया था कि वे वहाँ पहुँचकर उनके सामानों को सँभालने में हमारी सहायता करें। वह आया, उन्हें अभिवादन किया, उनके विदेशी दिखने वाले विचित्र पेटियों को छुड़वाया, उनकी जाँच करवाई और फिर अपने काम पर लौट गया। जहाज नियत समय से पहले आ पहुँचा था और उस समय नगर में हम तीन लोग ही उपस्थित थे, क्योंकि रिजले की टोली १० बजे पहुँची और बड़ी निराश हुई। ... स्वामीजी जब स्टीमर से नीचे उतरे तो वे अपने हाथ में फटे-पुराने कागजों में लिपटी एक बड़ी बोतल को खूब सावधानी के साथ सँभाले हुए थे। अद्भुत प्रकार के अचार जैसी किसी चीज से भरी उस मूल्यवान बोतल को वे इसी प्रकार भारत से लाये थे और 'बिन्रे-वाटर' (मोटरबोट) तक पहुँचने के पहले किसी के भी हाथ में देने को तैयार नहीं थे। वे बोले – ''यह जो (जोसेफीन मैक्लाउड) के लिये है !''

हम सभी एक साथ लौटे और उसके बाद बीते हुए दिन ! उस स्वाधीन परिवेश ने उनके स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव डाला और उस दौरान हमें अद्भुत बातें और विलक्षण उपदेश सुनने को मिले ! अग्निवर्ण के वस्त्र धारण किये रिजली के लानों में चलते-फिरते वे क्या ही अद्भुत व्यक्ति प्रतीत होते थे। उनकी चाल किसी भी अन्य चीज की अपेक्षा कवि के उस वर्णन से अधिक मेल खाती थी – ''जिसका हर कदम विश्व की परवाह न करता हो।'' मुझे नहीं लगता कि वैसा कुछ फिर कभी देख सकूँगी। उनकी उपस्थिति में एक तरह की अभिभूत कर लेनेवाली भव्यता थी। उनका व्यक्तित्व न तो अनुकरणीय था, न वर्णनीय।

एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि वे कुछ कार्य करना चाहते हैं, जो उनके हाथों को व्यस्त रख सके और उन दिनों मन में उमड़-घुमड़ रही चिन्ताओं से उन्हें बचा सके; क्या मैं उन्हें चित्र आँकना सिखा सकूँगी? चित्रकला की सामग्री जुटा ली गयी। निर्धारित समय पर वे एक विचित्र समर्पण के भाव के साथ मेरे लिये एक बड़ा-सा सेव लेकर आये और गम्भीरतापूर्वक अभिवादन करते हुए उसे मेरे हाथ में रख दिया। इस उपहार का मर्म पूछने पर उन्होंने बताया कि यह विद्या के सफल होने की कामना का प्रतीक है। वे बड़े ही अद्भुत छात्र सिद्ध हुए ! कोई भी चीज उन्हें बस एक बार ही बतानी पड़ती थी। उनकी स्मरण-शक्ति तथा एकाग्रता विलक्षण थी और एक शिक्षार्थी की दृष्टि से उनके चित्र निर्दोष तथा उत्कृष्ट होते थे। चौथे दिन का पाठ पूरा होने तक उन्हें लगा कि वे व्यक्ति-चित्र आँकने में सक्षम हो चुके हैं। अत: तुरीयानन्दजी एक काँसे की मूर्ति के समान आसीन हो गये, श्री लेगेट के अध्ययन-कक्ष का बड़ा सोफा हमारे बैठने के काम आया और उसकी सुन्दर प्रकाश - व्यवस्था ने भी हमारी सहायता की। इस प्रकार एक बड़ा सुन्दर चित्र तैयार हुआ। भविष्य के वर्षों में सम्भव है कि अनेक महान् लोग उस कमरे में पधारें, पर उनमें कभी कोई वैसा शिशु-स्वभाव व्यक्ति नहीं होगा। वे उन रंगीन पेंसिलों के साथ इतने एकाग्र मन-प्राण से परिश्रम करते, मानो वही उनका पेशा हो। इससे उन्हें जो आनन्द प्राप्त हुआ और सीखते समय उन्हें जिस खुशी की अनुभूति हुई थी, उसके लिये भी उन्होंने मुझे बारम्बार धन्यवाद दिया।

एक दिन बड़ी गर्मी पड़ रही थी। सुबह के समय हम लोग एक साथ कमरे में बैठे हुए थे। हमने उनसे यह पगड़ी बाँधने की पद्धति दिखाने का अनुरोध किया। उन्होंने वैसा ही किया और साथ ही विभिन्न जातियों तथा जन-जातियों में प्रचलित और भी कई तरह से पगड़ी बाँधकर दिखाया। जब उन्होंने मरुभूमि के लोगों के समान गरम हवा से गरदन को बचाने के लिये विशेष तरह से पगड़ी बाँधी, तो मैंने उनका चित्र बनाने के लिये उनसे वैसे ही बैठे रहने को कहा। वे मान गये और उस समय भी निरन्तर बातें करते रहे। उसी दिन उन्होंने हमारे साथ पवित्रता एवं सत्य पर चर्चा की थी।

रिजली के उन दिनों से जुड़ी अनेक बातें याद आती हैं। स्वामीजी प्रतिदिन ही किसी-न-किसी नये रूप में अद्भुत प्रतीत होते। कभी वे संगीत पर चर्चा करते, कभी कला पर और एक दिन सुबह तो 'स्वाधीनता' की घोषणा करते हुए वे

बैठकखाने में प्रविष्ट हुए – "मुहम्मद या बुद्ध एक व्यक्ति रहे हों, तो इससे मुझे क्या? क्या इससे मेरी अच्छाई या बुराई में कोई परिवर्तन आ सकता है? हमें अपने ही बूते पर अपने ही लिये अच्छा बनना होगा ! इसलिये नहीं कि किसी युग में कोई अच्छा हुआ था !"

एक अन्य समय उन्होंने मुझे एक प्राचीन भारतीय प्रेम-गीत सिखाने का प्रयास किया था, जिसका भाव यह है –

झूम-झूमकर पुष्प कह रहे
आकर यहाँ हमें चुन लो !
प्रियतम की ग्रीवा में देने
निज हाथों माला बुन लो !

मैं केवल उनके शब्दों को ही सीख सकी, परन्तु उसमें ऐसे छोटे-छोटे तान तथा सुरों के विचित्र उतार-चढ़ाव थे कि वह मेरी पकड़ के परे था।

उसके कुछ दिनों बाद ही रिजली में एक भव्य निशा-भोज का आयोजन हुआ। पुष्पों तथा आलोक-माला से मेजों को अद्‌भुत रूप से सजाया गया था और महिलाएँ अपनी सर्वश्रेष्ठ वेशभूषा तथा आभूषण धारण करके आयी थीं। जब बातचीत तथा आनन्द का दौर अपने चरम पर था, तभी एक ऐसे क्षण में जब मैं उन सबमें भाग न लेते हुए केवल देख भर रही थी और उस सौभाग्य के विषय में सोच रही थी, जिसके द्वारा ऐसी चीज सम्भव हो सकी थी और आश्चर्य-पूर्वक सोच रही थी कि ये लोग उतने ही आनन्दित हैं, जितना की दिख रहे हैं, स्वामीजी मेरे सामने तिरछी दिशा में बैठे थे। तभी मानो अन्य सभी बातों के कोलाहल को भेदती हुई सहसा मुझे उनकी गम्भीर सम वाणी सीधे मेरे कानों में आ पड़ी – "बेबी, इनके बहकावे में मत आना।" मैंने देखा कि वे पुष्पों तथा आलोक-माला के ऊपर से मेरी ओर देख रहे थे। (नहीं जानती क्यों, पर वे मुझे 'बेबी' कहकर सम्बोधित किया करते थे।)

एक बार उन्होंने मुझसे कहा – "अपने नेत्रों के पीछे स्थित अपने हृदय को तुम कभी छिपा नहीं सकती, क्योंकि वे तुम्हारे होठों के पहले ही बोल उठते हैं।" इसके बाद उन्होंने और भी कहा – "ऐसा करने की चेष्टा मत करना। जैसे हर व्यक्ति स्वयं को दिखावे का आवरण में छिपाये हुए चलता है, वैसा तुम मत होने देना। इससे तुम्हें कष्ट तो होगा, पर तुम्हारी संवेदनशीलता तथा कार्यकुशलता में वृद्धि होगी। प्राय: सारा संसार ही परम्परा तथा कपटता का मोटा आवरण लपेटे हुए चलता है, उसी प्रकार जैसा कि एक बोधकथा में है – दो व्यक्ति परस्पर गले मिलकर प्रेम जताते हुए, एक-दूसरे के कन्धे के उस पार के जगत् की ओर देखते हुए आँखें दबाकर उपहास व्यक्त कर रहे हैं।

स्वामीजी का मानवीय भाव उनके व्यक्तित्व के सर्वोत्तम पहलुओं में से एक था। एक बड़े बालक के समान वे हर चीज का आनन्द लेते। आइसक्रीम उन्हें बड़ा पसन्द था। कई बार जब वे भोजन के बाद विदा माँगकर धुम्रपान अथवा टहलने के लिये जा रहे होते, तभी श्रीमती बेट्टी (लेगेट) के मुख से निकलता कि आज शायद आइसक्रीम भी है, तो वे तत्काल मुड़कर लौट आते और अपेक्षा की एक ऐसी मुस्कुराहट तथा विशुद्ध आनन्द की मुद्रा में अपनी जगह पर बैठ जाते, जो सोलह वर्ष की आयु से अधिक के व्यक्ति के चेहरे पर शायद ही कभी दृष्टिगोचर होती है। आइसक्रीम उन्हें प्रिय था और वे उसे आनन्द-पूर्वक ग्रहण करते थे।

अपने उस शरत्कालीन निवास के दौरान मैं एक चिन्ता से बड़ी परेशान थी और यद्यपि मैंने किसी को इसके बारे में बताया नहीं था, परन्तु यह सर्वदा मेरे अन्तर्मन में बना रहता था। रिजली के पश्चिमी खिड़कियों से एक खलिहान में थ्रेसिंग मशीन के द्वारा गेहूँ की दँवरी होती हुई दीख पड़ती थी। एक दिन अपराह्न के बाद स्वामीजी ने मुझसे कहा कि चलो, जरा टहलते हुए उसे देख आयें। मैं पिछले एक सप्ताह से गाँव में ठहरी हुई थी और प्रतिदिन उस 'मैनर-हाउस' में आकर वहाँ के आनन्दों में हिस्सा बँटाया करती थी। पहाड़ी से नीचे उतरते समय वे सहसा बोल उठे – "पिछली रात तुम कहाँ थी? रिजली के भोज में हमें तुम्हारा बड़ा अभाव-बोध हो रहा था।" सुनकर मैं तो मानो आसमान से गिरी, परन्तु मेरे मुख से निकला – "मैंने तो इसके बारे में कुछ नहीं सुना था।" वे बोले – "बड़ा ही अद्‌भुत था ! तारोंवाले तरह-तरह के वाद्ययंत्र थे और ऐसा सुन्दर भोजन !" मैंने आश्चर्य-मिश्रित स्वर में कहा – "उसमें कौन-कौन था, मुझे बताइये?" वे बोले – "ओह, कौन नहीं था ! और एक बार उन लोगों ने जो नाचना शुरू किया, तो नाचते ही रहे, परन्तु नृत्यकक्ष में नहीं, बल्कि मकान के अन्दर। सब कुछ उलट-पलट गया था। वाह, कैसा अद्‌भुत भोज था !"

मैं सोचने लगी – इन सबका क्या तात्पर्य था ! मुझे क्यों नहीं बुलाया गया और भोज के पहले या बाद में भी उन लोगों ने मेरे सामने उसका उल्लेख क्यों नहीं किया ! थोड़ी देर बाद मैंने सोचना छोड़ दिया। अगले दिन मुझे पता चला कि वह सब गप्प था, जिसे स्वामीजी ने मेरी सोच में बदलाव लाने तथा कुछ समय के लिये मेरी चिन्ता को दूर करने के लिये गढ़ा था। पर उन्होंने उसका ऐसे सजीव ढंग से वर्णन किया था कि उस पर कोई शंका ही नहीं कर सकता था।

मुझे आज भी मानो स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है कि वे हॉल में हरे सोफे पर एक थके बालक के समान पाँव फैलाये गहरी नींद में सो रहे हैं। मैंने उनकी पूर्ण शान्ति की उसी मुद्रा में रेखाचित्र बनाने का प्रयास किया; उनके मुख की

रेखाएँ इतनी सरल तथा मधुर थीं, तथापि उनका अंकन करना कितना कठिन था !

चित्रकला के पाठ समाप्त हो जाने के बाद एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा – मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ। मैंने सुन रखा था कि वे बड़े अद्‌भुत ढंग से भविष्य बता सकते हैं, मैंने उनसे उसी के लिये अनुरोध किया। वे बोले कि जब 'भविष्यवक्ता' की मन:स्थिति में होंगे, तो बतायेंगे। कुछ दिनों बाद उन्होंने मुझसे कहा – 'आओ' और मुझे ग्रन्थालय में ले गये। वहाँ हम दोनों हरे रंग के सोफे पर बैठ गये। उसके बाद उन्होंने मुझसे अपना हाथ सीधा खोलने को कहा और उस पर हल्के से अपना हाथ रखकर अपना सिर दूसरी ओर घुमा लिया। वे पूरी तौर से मौन थे और करीब-करीब सभी लोग टहलने या पढ़ने जा चुके थे, अत: मुझे आशा थी कि मैं अबाध रूप से अपना भविष्य जान सकूँगी। उन्होंने एक या दो गहरी साँसें लीं और कहने लगे – "मैं देख रहा हूँ कि ...।" तभी द्वार खुला और बीच में आ पड़नेवाली अल्बर्टा ने हमारी बैठक को भंग कर दिया। इसके बाद उन्होंने फिर कभी यह प्रसंग नहीं उठाया और कुछ काल बाद ही मैं वहाँ से विदा हो गयी।

एक अन्य समय कई अतिथि नारियाँ आयी हुई थीं, जिनमें से दो के साथ उनकी पुत्रियाँ भी थीं। निशाभोज के बाद हम लोग हॉल में बैठे हुए थे और वे अपने अग्निवर्ण के रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थे। अहा, उनका व्यक्तित्व कितना अद्‌भुत दिख रहा था – हृदय तथा कल्पना दोनों को ही सम्मोहित कर लेनेवाला ! वे आग के पास बैठे हुए थे। उन्होंने अपनी भ्रमर के समान काले, चमकीले तथा विशाल नेत्रों को धीरे-धीरे घुमाकर प्रत्येक की ओर देखा। सहसा वे विवाह के विषय में बोलने लगे और उनके पहले वाक्य से ही उनके महान् तात्पर्य की गहराई स्पष्ट थी। वे ऐसी बातें कह रहे थे जैसा कि मैंने कभी किसी पुरुष को महिलाओं के सामने बोलते नहीं सुना – उस महान् बन्धन में स्त्री-पुरुषों के बीच जिस आकर्षण का अनुभव होता है, वे उसी के बारे में बोलने लगे। उन दो माताओं को यद्यपि प्रारम्भ में यह थोड़ा विचित्र लगा, परन्तु प्रस्तुति की गम्भीरता तथा उदात्तता ने शीघ्र ही उन्हें भी भावविभोर कर दिया। हमें फिर कभी ऐसी चीज सुनने को नहीं मिलनेवाली थी। उनके विचार एक पूर्णत: सामान्य तथा स्वाभाविक आध्यात्मिक व्यक्ति के अनुरूप ही थे। उनके कहे हुए शब्द एक गीत के समान थे, जिन्हें दुहरा पाना असम्भव है, परन्तु उनका अर्थ इतना स्पष्ट था कि वे मानो जीवन के सार-तत्त्व स्वरूप ही थे। अपनी बातें समाप्त करने के बाद वे उठे और पूर्ण निस्तब्धता के बीच विदा हुए। यही एक सन्त का आदर्श है।

(वेदान्त एंड द वेस्ट, नवम्बर-दिसम्बर १९५३)

युगावतार श्रीरामकृष्ण

रवीन्द्रनाथ गुरु

सत्ययुगे महाविष्णुर्नारायणो दयामयः
त्रेतायां रामचन्द्रश्च धर्मो विग्रहवान् स्वयम् ।।
द्वापरे कृष्णचन्द्रस्तु योगेश्वरो जनार्दनः
कलौ परमहंसः स रामकृष्णः सतांवरः ।।

– सत्ययुग में महाविष्णु श्रीनारायण हुए। वे त्रेतायुग में दयामय धर्म के मूर्तस्वरूप श्रीरामचन्द्र हुये, द्वापर युग में श्रीकृष्णचन्द्र हुये, स्वयं वे योगेश्वर जनार्दन ही कलियुग में साधु श्रेष्ठ श्रीरामकृष्ण परमहंस हुए।

गंगा-गीत

देवयानी (इलाहाबाद)

गोमुख से गंगासागर तक
जन-जन के मन भायी,
कभी रुपहले कभी सुनहरे
रूप में बहकर आयी।

कल-कल की निनाद करती
बहती धारा गंगा की,
जय जयकार करो गंगा की
जय माता गंगा की ।।

तपी भगीरथ की महिमा
करती हैं सतत प्रदर्शित,
ब्रह्मवारि को देख तरंगित
जन-मन प्रमुदित हर्षित ।

भारत-माँ के वक्षस्थल पर
दिखती है माला सी,
जय जयकार करो गंगा की
जय माता गंगा की ।।

गंगा-तट है क्षेत्र मुक्ति का
तृप्त करे तन-मन को,
पाप-ताप को दूर हटाकर
धन्य करे जीवन को ।

मुख में गंगा बिन्दु मात्र हो
यम की एक न चलती,
जय जयकार करो गंगा की
जय माता गंगा की ।।

माँ की स्मृति-सुरभि

स्वामी राघवानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

उन दिनों मैं कोलकाता के इडेन होस्टल में रहकर प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़ता था। निर्मल कुमार बसु (बाद में स्वामी माधवानन्द) और अनुकूल सान्याल भी उसी कॉलेज में पढ़ते और उसी छात्रावास में रहते थे। हम तीनों लोगों में बड़ी मित्रता थी। मैं ऊपर की कक्षा में पढ़ता। उस समय मैं ही छात्रावास का मॉनिटर था। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ पढ़कर मैं परमहंसदेव के अभूतपूर्व जीवन-साधना, शिक्षा तथा आदर्श के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। मेरी सलाह पर वे दोनों मित्र भी 'वचनामृत' पढ़ते और परम आनन्द का अनुभव करते। इसके बाद हम तीनों ने प्रतिदिन निर्दिष्ट समय पर इस ग्रन्थ का पाठ और श्रीरामकृष्ण के बारे में चर्चा करना आरम्भ किया। तभी एक दिन मैंने वचनामृत के लेखक श्रीम (मास्टर महाशय) का दर्शन किया। उन्होंने मेरे प्रति विशेष स्नेह प्रदर्शित किया और आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिये प्रोत्साहित किया। श्रीम का प्रेमपूर्ण सान्निध्य, प्रेरणादायी वार्तालाप और ज्ञान-भक्ति से परिपूर्ण विशुद्ध जीवन मुझे बड़ा आकर्षक लगता। इसके बाद मैं बारम्बार उनके पास आने-जाने लगा। बीच-बीच में मैं इन मित्रों को भी उनके पास ले जाता। इसके फलस्वरूप वे लोग भी श्रीम के अनुरागी हो उठे। मास्टर महाशय के निर्देश पर मैं क्रमश: स्वामी ब्रह्मानन्द (राखाल महाराज), स्वामी प्रेमानन्द (बाबूराम महाराज), स्वामी तुरीयानन्द (हरि महाराज) आदि श्रीरामकृष्णदेव के विशिष्ट त्यागी शिष्यों के भी घनिष्ठ संसर्ग में आया। वे लोग भी मुझे काफी स्नेह-प्रेम देते और प्रोत्साहित करते।

एक दिन बात-बात में श्रीम ने श्रीमाँ सारदा देवी के बारे में बताया। यह बात मैंने अपने मित्रों को भी बतायी। उन्होंने हम लोगों से कहा – "परमहंसदेव की सहधर्मिणी जीवित हैं। वे अपने मायके बाँकुड़ा जिले के जयरामबाटी ग्राम में रहती हैं और अनुरागी भक्तों को दीक्षा भी देती हैं।" उन्होंने यह भी बताया कि वहाँ किस प्रकार पहुँचा जा सकेगा।

यह सूचना पाकर हम लोग खूब आनन्दित हुए और हमारे मन में श्रीमाँ का दर्शन करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। उसके बाद कॉलेज की छुट्टी हुई। इन छुट्टियों में निर्मल अपने माता-पिता के पास बोलपुर गये। उस समय उनके कुलगुरु भट्टाचार्य महाशय एक दिन उनके घर आये। निर्मल गुरुदेव को प्रणाम करके कुशल-क्षेम पूछने के बाद बोले – "सुना है कि परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी अब भी जीवित हैं और भक्तों को दीक्षा भी देती हैं। मेरी उनसे दीक्षा लेने की इच्छा है। यदि आप कृपापूर्वक इसके लिये अनुमति तथा आशीर्वाद प्रदान करें, तो मेरी इच्छा पूर्ण हो।"

निर्मल की बात सुनकर गुरुदेव को आह्लाद हुआ। उन्होंने इसके लिये सहर्ष अनुमति प्रदान की और अभिष्ट-सिद्धि के लिये आशीर्वाद भी दिया। निर्मल ने पूछा – "परमहंसदेव की जीवनी और उपदेश तो प्रकाशित हुए हैं। उनके विषय में अनेक लेख भी छपे हैं। जिसके फलस्वरूप उनकी महिमा प्रगट हो रही है, पर उनकी सहधर्मिणी के बारे में तो मैं कुछ नहीं जानता। इसलिये मेरे मन में थोड़ी द्विधा है। इस विषय में आपकी क्या राय है? कृपया बताइये।"

उत्तर में भट्टाचार्य महाशय बोले – "देखो बेटा, तुम विश्वविद्यालय के मेधावी छात्र हो। कलकत्ते में रहते हो। वहाँ अनेक बड़े-बड़े ज्ञानी-गुणी लोगों के साथ मिलते-जुलते रहते हो और मैं गाँव का एक व्यक्ति हूँ। मैं विद्वान् भी नहीं हूँ। तो भी यह बात सहज ही समझ सकता हूँ कि ठाकुर श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव यदि ईश्वर के अवतार हों, अथवा भगवत्-प्रेरित विशिष्ट महात्मा या उच्चकोटि के साधक रहे हों, तो उनकी सहधर्मिणी क्या कभी साधारण नारी हो सकती हैं? निश्चित जानना कि वे सती-साध्वी ब्राह्मणी ही परमहंसदेव की साधन-सिद्धि की पूर्ण अधिकारिणी हैं। इस विषय में मुझे कोई शंका नहीं और तुम्हें भी कोई संशय होना उचित नहीं।"

माँ के बारे में एक ग्रामीण ब्राह्मण की यह सरल उदार और स्पष्ट विचार जानकर निर्मल आश्चर्यचकित रह गये और उन्होंने भक्तिपूर्ण हृदय से एक बार फिर उनकी चरण-वन्दना की। निर्मल के छात्रावास लौटने पर हमने भी उनसे यह बात सुनी। उनकी बातों ने हमारे हृदय में आलोक-संचार किया और उसमें निरन्तर हलचल होती रही। मैं और अनुकूल

व्याकुल हो उठे कि कितनी जल्दी माँ का दर्शन हो !

एक दिन हम तीनों मित्र मास्टर महाशय का पत्र और आशीर्वाद लेकर माँ का दर्शन करने जयरामबाटी गये। वहाँ पहुँचकर माँ के श्रीचरणों का दर्शन कर हम लोग धन्य हुए। यह जानकर कि हम लोग मास्टर महाशय के परम स्नेही हैं और उन्हीं की प्रेरणा से यहाँ आये हैं, माँ ने विशेष रूप से हम लोगों का स्नेह प्रदर्शित किया। वे बोलीं – "बेटा, कल सुबह तुम लोग स्नान करके मेरे पास आना।" अगले दिन हम तीनों मित्र यथासमय माँ के पास गये। हम लोगों ने देखा कि वे अपने कमरे में पूजा की सामग्री सजाकर आसन पर बैठी हैं और वहाँ तीन और आसन बिछे हैं। हम लोगों को देखकर माँ ने स्नेहपूर्वक कहा – "बेटा, तुम लोग अन्दर आकर आसन पर बैठो।" निर्मल और अनुकूल कमरे के अन्दर जाकर उन्हें प्रणाम करके आसनों पर बैठ गये। परन्तु मैं चुपचाप दरवाजे पर खड़ा रहा। माँ ने मुझे दुबारा बुलाया और भीतर आकर आसन पर बैठने को कहा।

तब मैंने उनसे विनयपूर्वक पूछा – माँ, आप मुझे आसन पर बैठने को क्यों कह रही हैं?

माँ ने कहा – दीक्षा दूँगी।

मैंने कहा – पर मैं तो केवल आपके श्रीचरणों के दर्शन करने आया हूँ।

माँ – तो बेटा, तुम मंत्र नहीं लोगे?

मैं – लूँगा माँ, परन्तु राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) से लूँगा।

माँ – राखाल महाराज के साथ तुम्हारा परिचय हुआ है?

मैं – हाँ माँ, हुआ है।

इस पर माँ बोलीं – "राखाल तो हमारा ही बच्चा है। अच्छा है, तो फिर तुम उसी से मंत्र लेना।"

उस दिन शुभ मुहुर्त में माँ ने निर्मल और अनुकूल को दीक्षा देकर उनकी मनोकामना पूर्ण किया। जगदम्बा की अपार कृपा पाकर दोनों धन्य हुए।[१]

अन्त में, हम तीनों मित्र माँ को प्रणाम करके और उनका आशीर्वाद लेकर कोलकाता लौटे। उसके बाद मैं एक दिन पूज्य राखाल महाराज के चरणों में उपस्थित हुआ और उनके समक्ष अपनी आन्तरिक आकांक्षा प्रकट की। महाराज मुझे दीक्षा देने को राजी हुए और बाद में एक शुभ दिन उन्होंने मेरी इच्छा पूर्ण की। इससे मेरा भी संकल्प सिद्ध हुआ।

उसके बाद विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करके मैंने श्रीरामकृष्ण संघ में योगदान दिया और बाद में राखाल महाराज से ही ब्रह्मचर्य और संन्यास की दीक्षा प्राप्त की। निर्मल ने भी संघ में योगदान दिया और यथासमय महाराज से ही ब्रह्मचर्य और संन्यास प्राप्त किया।

काफी दिनों बाद एक दिन गंगा में नहाते समय मैंने माँ के एक शिष्य संन्यासी से कहा – "माँ ने तुम्हें जो मंत्र दिया है, वह मुझे बताओ। नहीं बताने पर मैं तुम्हें गंगा में डुबाकर मार डालूँगा।"

साधु मुझे वह मंत्र बताना नहीं चाहते थे। इस पर मैं सचमुच ही उन्हें पानी में डुबाने चला। इससे साधु डर गये। अन्त में मैंने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा – "रामानुज ने अपने गुरुदेव से महामंत्र पाने के बाद सबके कल्याण हेतु उसका उच्च स्वर में बारम्बार उच्चारण किया था। मुझे बताने से तुम्हारा कोई अपराध नहीं होगा।" तो भी उन संन्यासी ने वह मंत्र नहीं बताना चाहा।

तब मैंने उनसे कहा – "तुम माँ से कहना, मैं तुमसे मंत्र सुनना चाहता हूँ।" तब वे बोले कि माँ से पूछकर अगले दिन मुझे बतायेंगे।

उस समय माँ बागबाजार में उद्बोधन-भवन में निवास कर रही थीं। ये संन्यासी उसी दिन उनके पास गये और उन्हें प्रणाम करके यह पूरी घटना उन्हें कह सुनायी। उस समय माँ के पास गोलाप-माँ, योगीन माँ तथा और भी कई भक्त-महिलाएँ बैठी हुई थीं। मेरा यह काण्ड सुनकर माँ धीरे से हँसी और उपस्थित भक्तगण अवाक् रह गये।

इसके बाद माँ गम्भीर होकर उनसे बोली – "सीतापति (मेरे पुकारने का नाम) को मैंने सदर दरवाजे से भीतर लाने के लिये कितनी चेष्टा की। तब तो वह मेरे बुलाने से आया नहीं। अब वह पिछले द्वार से अन्त:पुर में आना चाहता है।"

अन्त में, माँ ने स्नेहपूर्वक कहा – "सीतापति तुम लोगों का बड़ा भाई है। कल गंगा स्नान करते समय उन्हें तीन बार मंत्र बोल देना। तुम्हें कोई अपराध नहीं होगा।"

अगले दिन स्नान करते समय मैंने उन संन्यासी से पूछा – "माँ ने तुमसे क्या कहा? उत्तर में वे बोले – "उन्होंने आपको तीन बार वह मंत्र सुनाने को कहा है।" तब उन्होंने मुझे तीन बार वह मंत्र सुना दिया और गोलाप-माँ आदि के समक्ष माँ ने जो कुछ कहा था, वह सब भी बताया।

अनुलिखन : सुरेन्द्र नाथ चक्रवर्ती। ❖ **(क्रमशः)** ❖

१. राघवानन्दजी की स्मृति में थोड़ी भूल है, क्योंकि परवर्ती काल में स्वामी माधवानन्द ने बताया था कि माँ से उनकी मंत्रदीक्षा कोलकाता के 'मायेर बाड़ी' में स्वामी रामकृष्णानन्द की प्रेरणा से १९०९ ई. में हुई थी। १९०८ ई. के अन्त में वे स्वामी राघवानन्द और अनुकूल सान्याल के साथ जयरामबाटी गये थे। अनुकूल सान्याल की प्रकाशित स्मृतिकथा से भी ज्ञात होता है कि उस बार जयरामबाटी में केवल उन्हीं (अनुकूल सान्याल को ही) माँ से दीक्षा मिली थी। (द्र. स्वामी चेतनानन्द द्वारा संकलित 'मातृदर्शन', द्वि. सं., १९०९, पृ. २५१)

* उद्बोधन, वर्ष ९६, संख्या ४, वैशाख १४०१, पृ. १७७-७८

दैवी सम्पदाएँ (१३) त्याग

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

त्याग जीवन का मूल आधार और समतावादी समाज की संरचना का बीजमंत्र है। निषेधात्मक रूप में यह लोभ का विपर्यय है। अपने से इतर तत्त्वों को सुख का स्रोत मानकर उनके संग्रह की प्रवृत्ति लोभ है और उन प्राप्त तत्त्वों का वितरण या संग्रह की अप्रवृत्ति त्याग है। त्याग का सामान्य अर्थ उसे छोड़ना है, जिसे हमने चारों ओर से पकड़ रखा है। अपनी जरूरत से अधिक साधनों की, शुचिता की उपेक्षा कर सुखोपभोग की अमर्यादित वस्तुओं पर स्वामित्व स्थापन या उनकी लालसा परिग्रह है और इसका अभाव अपरिग्रह या त्याग है। आचार्य शंकर ने त्याग को 'संन्यास' कहा है और आचार्य रामानुज ने आत्महित के प्रतिकूल वस्तुओं के अपरिग्रह को त्याग कहा है। भगवान महावीर ने कहा – मन की ममत्व दशा ही वस्तुत: परिग्रह है – **मुच्छा परिग्गहो**। जैन आचार्य जयसेन ने बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति को त्याग कहा है – **बाह्याभ्यन्तर-परिग्रह-निवृत्तिस्त्यागः**।[1]

धन-धान्य आदि भौतिक चीजों का संग्रह बाह्य परिग्रह और काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि भावों का परिग्रह आन्तरिक परिग्रह है। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ना ही त्याग है। हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने विषय हैं। इनमें से कुछ विषय उन्हें बड़े अच्छे लगते हैं और कुछ बिल्कुल भी अच्छे नहीं लगते। जो अच्छे लगते हैं, उनसे इन्द्रियों की मित्रता हो जाती है तथा जो अच्छे नहीं लगते, उनसे द्वेष हो जाता है। त्याग में राग-द्वेष के इन द्वन्द्वात्मक भावों को छोड़कर समत्व भाव धारण करना पड़ता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर राग-द्वेष आदि से निर्मलीकरण की प्रक्रिया को जैन शास्त्रों में त्यागव्रत की पंच भावनाओं के नाम से परिलक्षित किया गया है। (उमा स्वामी ७.८)[2] महात्मा बुद्ध ने सारे दु:खों का मूल तृष्णा को माना। तृष्णा के कारण ही व्यक्ति भौतिक-साधनों की ओर आकर्षित होकर उनका संग्रह करता है। अत: इस तृष्णा का त्याग ही सच्चा त्याग है। पातंजल योग-दर्शन के अनुसार अपरिग्रह 'यम' के अन्तर्गत समाविष्ट है। अपिरग्रह की स्थिरता हो जाने पर पूर्वजन्मों की बातें स्मृति में उदित हो जाती हैं।[3]

त्याग के निम्न रूप हो सकते हैं – १. सांसारिक चीजों का त्याग। २. राग-द्वेषादि भावों का त्याग। ३. कर्मों का त्याग। ४. कर्म-फल का त्याग।

गीता में त्याग के जिस रूप की चर्चा है, वह चौथे प्रकार का है। प्रथम प्रकार का त्याग तो दान के अन्तर्गत आ जाता है। दूसरे प्रकार का त्याग चौथे में समाहित है और तीसरे प्रकार के त्याग की गीता अनुमति नहीं देती, क्योंकि कर्म-संन्यास कल्पना मात्र है। कर्मों से उपरति किसी भी शरीरधारी को नहीं मिलती। उसे कोई-न-कोई कर्म तो करना ही पड़ेगा। हाथ-पैरों का चलाना, पलक झपकाना आदि सहजात कर्मों को वह छोड़ ही नहीं सकता। अत: उनके त्याग का अहंकार मोह पर आधारित होने से झूठा है। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म दोषपूर्ण हैं, उनका शुभाशुभ फल होता ही है, जो कर्मचक्र तथा भवचक्रों का प्रवर्तन करता है, तो कुछ यह भी मानते हैं कि यज्ञ-तप-दान आदि त्यागने योग्य नहीं है, उन्हें अवश्य करना चाहिये। ये मनीषी जनों को भी पवित्र करने वाले हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है – "हे अर्जुन, निश्चित रूप से मेरा यह मत उत्तम है कि इन्हें करना चाहिये – **कर्तव्यान् इति मे पार्थ, निश्चितं मतम् उत्तमम्**।" (१८.६)

अर्जुन बड़े परेशान थे, क्योंकि वे निरग्नि तथा अक्रिय मतवादों के चक्कर में आ गये थे। उनकी बुद्धि चकरा गई थी। अत: वे पूछते हैं – प्रभो, कृपया बतायें कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग में से कौन-सा श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण बोले – "हे अर्जुन, अकर्मण्य रहने से कर्म करना श्रेयस्कर है।

---

१. 'धर्म के दस लक्षण', डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल

२. मनज्ञा-मनोज्ञेन्द्रिय-विषय-रागद्वेष-वर्जनानि पंच। (७.६)

३. (अ) अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:। (२.२९)
(ब) अपरिग्रह-स्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः। (२.२९)
(स) योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रह:।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता॥

(२.८) कोई भी साधक यदि कर्मों को छोड़कर केवल संन्यास के बल पर ही सिद्धि प्राप्त करना चाहे, तो यह सम्भव नहीं है। और फिर कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर निष्काम भाव से किया गया कर्म बन्धनकारी नहीं है। यज्ञार्थ कर्म, कर्म-चक्र का कारण नहीं होता। कर्मों को छोड़ देना, पर इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करना क्या सच्चा संन्यास है? यह तो मिथ्याचार है। सच्चा संन्यास काम्य कर्मों का परित्याग है – **काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।** (१८.१) कामनाओं को छोड़ दीजिये, फल के प्रति आकर्षण, आसक्ति तथा वासना को छोड़िये; कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अहंकार का विसर्जन कीजिये। जो कुछ करें, आत्मार्पण न करके समाजार्पण कीजिये। कर्मों का त्याग न करके उनके फलों का त्याग कीजिये। विचक्षण पुरुष इसी को त्याग कहते हैं – **सर्वकर्म-फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।** (१८.२)

रागद्वेष-आदि भावों का त्याग कर्मफल-त्याग के साथ ही जुड़ा है। इनका त्याग कर्मयोग में आवश्यक है। जब तक रागद्वेष का त्याग नहीं होता, कर्म तब तक कर्मयोग की संज्ञा नहीं पा सकता। जिसने कामनाओं को त्यागा है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, इन्द्रियाँ संयत हैं, जो समस्त परिग्रह को छोड़ चुका है और जिसने कर्मफल त्याग दिया है, वही सच्चा संन्यासी एवं योगी है। ऐसा व्यक्ति मिट्टी, लोहे तथा सोने को समान समझता है। (१६.८) योगी और त्यागी में कोई अन्तर भी नहीं है। त्यागी वही है, जिसने कर्मफल का त्याग कर दिया है – **यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।**

त्याग और दान में भेद

त्याग और दान में अन्तर है, इसीलिये दोनों का अलग-अलग रूप से दैवी सम्पत्तियों में कथन है। दान स्वाधिकृत वस्तुओं का स्वेच्छया दूसरों को समर्पण है, किन्तु त्याग कामनाओं के निर्मूलन के साथ काम्य वस्तुओं के संकलन का प्रतिषेध है। दान में दाता, अदाता और दातव्य – तीन पक्ष होते हैं, जबकि त्याग में मात्र दो पक्ष हैं त्यागी तथा त्यक्तव्य। दान में आदाता के पात्रता का विवेक सम्मिलित हैं, क्योंकि अपात्र को दिया गया दान निष्फल हो जाता है। दान में स्वर्गादि की वांछा होने से सकामता हो सकती है, पर त्याग में निष्कामता नितान्त आवश्यक है। दान पुण्यकर्म है, त्याग योगकर्म। दान में दाता के हर्ष, प्रसन्नता और अक्लेश के भाव होने से वह सरल कर्म है, जबकि त्याग एक कठिन कर्म है। दान की एक सीमा हो सकती है, पर त्याग सीमा के परे है। दानी जिस वस्तु को जितना देना चाहता है, वह उसके पास उतनी मात्रा में होनी चाहिये। जो नहीं है, उसका दान नहीं हो सकता, पर त्याग उसका भी सम्भव है, जो उसके पास नहीं हैं। राग, आसक्ति और विषयों के ध्यान का त्याग ही वस्तुतः त्याग है। दान संग्रह पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता, जबकि त्याग में अपरिग्रह की वृत्ति आवश्यक है। त्याग स्वतःप्रेरित होता है, दान में पर-प्रेरणा भी मिल जाती है। दान स्वाधिकृत वस्तुओं का संविभाग – सम्यक् विभाजन है। त्याज्य वस्तुओं या भावों का संविभाग असम्भव एवं अनुचित है, क्योंकि कामादि भावों के वितरण की भावना गलत है। दान सद् वस्तुओं का होता है, जबकि त्याग असद् वस्तुओं या भावों का किया जाता है। दान स्थूल प्रकिया है और त्याग सूक्ष्म। दान परोपकार है और त्याग आत्मोपकार। दान परस्मैपद है, त्याग आत्मनेपद। दान दूसरों के लिये होता है, जैसे अन्नदान, औषधिदान और वस्त्र दान, पर अन्नत्याग या वस्त्रत्याग आदि अपने लिये ही होते हैं। स्पष्ट है कि त्याग और दान अलग-अलग है। इसी कारण दैवी-सम्पत्तियों में दोनों का परिगणन अलग से है।

त्याग और वैराग्य

त्याग और वैराग्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है। त्याग कर्मफल की आसक्ति का अभाव है, तो वैराग्य कर्मों की आसक्ति का त्याग है। कर्मों की आसक्ति से कर्तृत्व का और फल की आसक्ति से भोक्तृत्व का अंहकार उदित होता है। इन्द्रियों के विषयों में मन की वृत्तियों का अभिनिवेश – राग है और उसका अभाव विराग। विराग का भाव ही वैराग्य है। त्याग विषयानुबन्धित मनोवृत्तियों का अपकर्षण है। रंजना अर्थात् विषयाकारिता वृत्ति के बीजों का अनिर्वपन वैराग्य है और उन बीजों का भूर्जन त्याग है। सुखों की स्पृहा न करना वैराग्य है और उसे छोड़ना त्याग है। प्रथम सकारात्मक तथा द्वितीय प्रतिषेधात्मक पक्ष है।

त्याग के प्रकार

प्रक्रिया तथा भावना के आधार पर त्याग के प्रकारों का निरूपण है। विवेक-चूड़ामणि (३७३-७४) में लिखा है कि अन्तःत्याग और बाह्य त्याग वैराग्य रूपी पक्षी के दो पंख हैं। मुक्तिकामी पुरुष इनके बिना मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं चढ़ सकता। विरक्त मोक्ष की कामना से दोनों प्रकार की – अन्तः तथा बाह्य आसक्तियों को छोड़ता है। ब्रह्म में प्रतिष्ठित विरक्त पुरुष ही उनके त्याग में समर्थ है।

गीता में त्याग के तीन प्रकारों का वर्णन है – तामस, राजस और सात्त्विक। अज्ञान के कारण नियत कर्म का किया गया त्याग तामस है। कर्म दुःखरूप है। इनसे देह को कष्ट होता है, इस भाव से तथा भय के कारण किया गया त्याग राजस है। जो नियत कर्मों को अनिवार्यतः करता है, आसक्ति व फल का त्याग करता है, उसका त्याग सात्त्विक है। वही सच्चा त्यागी है। त्यागी की पाँच विशेषतायें हैं – **(क) अकुशलं कर्म न द्वेष्टि** – अकुशल कर्म के प्रति द्वेष भाव नहीं रखता। **(ख) कुशले न अनुषज्जते** – कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता। **(ग) सत्त्व-समाविष्टः** – सत्त्व में समाविष्ट होता

है। **(घ) मेधावी** – मेधासम्पन्न अर्थात् प्रतिभा और बुद्धि से युक्त होता है। **(ङ) छिन्नसंशय** – सभी सन्देहों, शंकाओं और निश्चय-अनिश्चय के द्वन्द्वों से मुक्त होता है। (१८/१०)

त्यागी को इच्छित, अनिच्छित और मिश्र – इनमें से कोई भी कर्मफल नहीं मिलता। ये फल तो उसे मिलते हैं, जो त्यागी नहीं है, जिसका त्याग सात्त्विक नहीं है।

जीवन के दो मार्ग – दो दृष्टियाँ

जीवन के दो मार्ग या दृष्टिकोण हैं – भोग और योग, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति। परिग्रह प्रवृत्ति का और अपरिग्रह निवृत्ति का परिचायक है। त्याग निवृत्तिमूलक है और गीता त्याग का प्रतिपादन करती है। प्रश्न उठता है कि निवृत्ति-लक्षण धर्म का प्रतिपादन करनेवाली गीता क्या प्रवृत्ति-स्वभावी व्यक्ति को 'वैरागी' बनाना चाहती है? लोग किसी किशोर या युवक को 'गीता' पढ़ते देखते ही कह उठते हैं कि यह तो 'बाबा' बन गया, गया काम से! क्या यह सत्य है? सब जानते हैं कि गीता समन्वयवाद में विश्वास करती है। 'मध्यमा प्रतिपद' का चयन भारतीय जीवनदृष्टि का वैशिष्ट्य है। अत: गीता में दो अतिवादी ध्रुवों को एक जगह लाने का प्रयास है। गीता माता का कथन है कि संसार में दो तरह के लोग होते हैं – एक दैवी प्रकृति के और दूसरे आसुरी प्रकृति के। आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों के लिये जीवन का अन्तिम लक्ष्य केवल व्यक्तिगत भौतिक सुख है। इन्द्रियों को विषय-भोग से तृप्त करना ही उनका परम पुरुषार्थ है। उनमें पवित्रता, आचरण और सत्य नहीं होता, भगवान के प्रति आस्था नहीं होती। वे कामनाओं की कठपुतली, उग्रकर्मा, जगत् के अहित साधक तथा अन्याय से धन-संचय करनेवाले होते हैं। उनका चिन्तन ऐसा होता है कि आज मैंने यह प्राप्त कर लिया, कल वह प्राप्त करूँगा। आज यह है, कल वह भी हो जायेगा। आज मैंने इस शत्रु को मारा, कल दूसरे को मारूँगा। मैं ऐश्वर्यों का स्वामी, सुखी और सिद्धादेश हूँ। मेरे पास धनबल, जनबल, बुद्धिबल तथा दैहिक बल है। मेरे समान दूसरा कौन है। ऐसी प्रकृति के लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं जान सकते – **प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जनाः न विदुरासुराः**। (१६.७)

वस्तुत: प्रवृत्ति का तात्पर्य इस प्रकार की जीवन-दृष्टि से नहीं है। असंयत भोग से कामनाएँ तृप्त नहीं होती, अपितु अग्नि में घी डालने के समान वे और भी भड़कती हैं –

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते॥

तृष्णा के क्षय में जितना सुख है, उतना कामसुख में नहीं है। कामसुख तो उसके १६वें अंश के तुल्य भी नहीं है –

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय-सुखस्यैते, नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व)

संग्रह में विग्रह का निवास है। कामिनी, कांचन व कीर्ति संग्रह के रूप हैं। सांसारिक उत्पातों के मूल में इनकी भूमिका निर्विवाद है। परिग्रह अशान्ति का कारण और त्याग शान्ति का सोपान है। त्याग से ही शान्ति सम्भव है – **त्यागा-च्छान्तिरन्तरम्**। (१२/१२) शान्ति त्याग का आभूषण है –

ग्यान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शान्ति पद, तुलसी अमल अदाग॥
(वैराग्य-सन्दीपनी, ४४)

गीता का त्याग संसार से पलायन नहीं है। उसकी दृष्टि निषेधात्मक नहीं है। वह सामाजिक दायित्वों तथा शास्त्रविहित कर्मों को छोड़कर संन्यास धारण करने की वकालत नहीं करती। उसका त्याग जल में रहकर जल का त्याग करनेवाले कमल के समान है। कर्म कीजिये। कर्मत्याग नहीं, अपितु कर्मफल का त्याग अपेक्षित है। कोई भी कर्म अच्छा या बुरा नहीं है। उसके पीछे हमारा उद्देश्य जैसा होगा, वह वैसा बन जायेगा। अत: आसक्ति-त्याग ही सच्चा त्याग, सही निवृत्ति और सत्य अपरिग्रह है। चित्त की निर्मलता है। सत्त्वसंशुद्धि है। सारा संसार प्रभु का है, वे ही इसके स्वामी हैं, अत: इस में आसक्ति रखना, किसी का धन चुराना तथा गलत तरीकों से संग्रह करना सर्वथा अनुचित है। ईशावस्योपनिषद् में है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

और सन्त नामदेव का अनुभव है – **परधन परदारा परहरी, ताके निकट बसै नरहरी।**

इस प्रकार गीता उस प्रवृत्तिपरक निवृत्ति और निवृत्तिपरक प्रवृत्ति का उपदेश देती है, जो जीवन तथा संसार के मोह को छोड़कर चुनौतियों का सामना करने का खुला निमंत्रण है। ऐसा लगता है कि द्वापर के अन्त में जब सामाजिक जीवन-मूल्यों का ह्रास होने लगा था, यज्ञादि आनुष्ठानिक कर्मों की विकृतियों को देखकर उनका विरोध होने लगा था। ज्ञान की अमूर्त उपासना की ओर झुकाव हो रहा था, कर्मों को बन्धन-कारक मानकर उन्हें अपना शत्रु मानते थे और सर्व प्रकार के कर्मों को त्याग कर निरग्नि तथा अक्रिय बनकर संन्यास धारण कर लेते थे। उसी समय श्रीकृष्ण ने निराशा से पलायन की सामाजिक व्याधि का आसक्ति-त्याग के रूप में अचूक समाधान प्रस्तुत किया, जिससे सामाजिक दोष न पनपें और लोग समाज में रहकर नि:स्पृह भाव से कर्म करें।

यह जीवन-दृष्टि हमारी सामाजिक विरासत है। हमारा पूर्व इतिहास इसका साक्षी है। **त्यागाय सम्भृतार्थान्** (रघुवंश) – त्याग हेतु ही सांसारिक विभूतियों का संग्रह करनेवाले वीर पुरुषों का कीर्तिगान काव्यों में हुआ है। वर्तमान परिस्थितियों में भी गीता के सन्दर्भ सर्वथा सार्थक हैं और पतनोन्मुखी राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के दृढ़ स्तम्भ हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

कारीगर और लोहा

स्वामी समर्पणानन्द

बस्ती का था कारीगर
एक अकेला धीर कुशल,
रांगा, लोहा या सोना
हाथों जिसके पड़ते ही
जाते सबके रूप बदल,
कारीगर वह धीर, कुशल ।।

लौह पिण्ड को देने रूप,
देता चोट हथौड़ी की
खिल चिनगारी गूँज छिटकती;
फिर लोहे को तपा-तपा
देता घन के घोर प्रहार ।

लौह कराहा एक बार -
''मालिक मेरे ! तुम करते क्यों
अनाचार औ अत्याचार?
राँगे को तुम देते फूँक,
सहलाते हो सोने को;
पर मुझको तुम लाल तपाकर
पीट-पीट तड़पाते हो?
मालिक मेरे, है क्या बात !
करते क्यों यह पक्षपात?

''लौह-लौह की टक्कर में
अंगार खिलेंगे कदम-कदम
धनुष राम का क्यों टंकारे
बोलो - क्या कसूर मेरा?
लंघन किया नहीं मैंने जब,
लौह-धर्म लक्ष्मण रेखा?
क्या मैं कोई हूँ अति दुष्ट,
इसीलिये हो मुझसे रुष्ट
मुझे पीटते जला-जला?''

बस्ती भर का कारीगर
बोला लोहे से हँसकर -
''तुझसे पहले कितनों ने
यह प्रश्न पुराना पूछा है ।
नहीं तुम्हारा कोई दोष
और न मेरा कोई रोष ।
बुद्धु प्यारे, सुन्दर काले,
समझ न पाये, भोले-भाले
लोहे से फौलाद बनाने
को मैं पीड़ा देता हूँ ।
पर, तुझ-सा ना कोई प्यारा
ना रांगा, ना सोना न्यारा ।

''कारण भी सुन !
शौर्यहीन यह दुर्बल रांगा
बस ऐंठन ही ऐंठन है,
घर की शोभा-सज्जा बन जो,
जगमग कर इठलाता है ।
ठोकर हल्की-सी लगते ही
चूर-चूर हो जाता है ।

''रक्त-पिपासु दम्भी सोना
अहं स्वार्थ की मूरत वो,
अपने कारण लोगों का
लुंठन, हत्या करवाता जो;
बन्द तिजोरी में वह सोता,
तन पर, तन बैठा रहता
कारण इसके बार-बार
धरती हरित, हुई है लाल ।

''अब देखो, तुम निज को भाई !
बनते हल और कुदाल,
तोप, तीर, तलवार बने तुम
पहिया औ संरक्षक ढाल;
तुझसे माटी उर्वर बनती
जड़ को सचल बनाते हो ।
करते रक्षा शीत-ताप से,
दुर्बल सबल बनाते हो ।।

''कितनी गाथा कहूँ तुम्हारी
कभी न होती पूरी है,
बिना तुम्हारे पीड़ित धरती
आधी और अधूरी है ।
लौह-हृदय है वीर पुरुष
खाता आघातें हँस-हँसकर
परहित अपना जीवन देता
ताप-चोट-पीड़ा सहकर ।।''

रस के बस में चार रात

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

(हिन्दी के प्रमुख कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित होने के पूर्व 'रेणु' के जीवन में एक रात बड़ी महत्वपूर्ण घटना घटित हुई, जिसने उनके जीवन का रूपान्तरण करके उन्हें नास्तिक से आस्तिक बना दिया। उस रात जब वे क्षय-रोग की चरम अवस्था में अस्पताल की शय्या पर पड़े अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे, तभी उन्हें भगवान श्रीरामकृष्ण का दर्शन मिला, बातें भी हुईं। फिर वे क्रमशः धीरे-धीरे धर्म-पथ पर खिंचते गए और अन्ततः रामकृष्णमय हो उठे थे। इस लेख में वही घटना वर्णित है। यह संस्मरणात्मक रचना सर्वप्रथम 'अणिमा' पत्रिका के जनवरी १९६५ के प्रवेशांक में प्रकाशित हुई और 'विवेक-ज्योति' के जनवरी-मार्च १९९१ अंक से पुनर्मुद्रित हो रही है। – सं.)

२४ दिसम्बर १९६४ ई. – रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में आयोजित 'क्रिसमस इव' से लौट रहा हूँ। मन-प्राण स्वर्गीय सुगन्ध में डूबा हुआ है। जीभ पर प्रसाद (केक) की गुलाबी-मिठास ! किन्तु ओवरकोट इतना भारी है कि लगता है कन्धे पर सलीब ढो रहा होऊँ। एक कुहरे-भरी साँझ में अभी जो कुछ देखता हूँ, उस पर एक 'क्रास' की छाया उभर आती है: सड़क, रोशनी, रिक्शा, आदमी, क्रास + क्रास + क्रास + + । आश्रम से निकलकर दाहिनी ओर मुड़ रहे थे पैर – जिधर जाते-जाते गाँधी-मैदान के पास जाकर मैं एक 'जहन्नुम' में चला जाता। मन मना कर रहा था, मगर पैर मुड़ रहे थे। हठात्, कर्कश हार्न सुनकर वाम दिशा के फुटपाथ पर चढ़ गया। देखा, एम्बुलेन्स बाय-पास होकर छुतहा अस्पताल जा रहा है। कुहरे में भी, दूर तक, सुफेद मोटरवान पर अंकित रेड़-क्रास दिखलायी पड़ता है। फिर कुहासे के झीने पर्दे पर – कम्पलिमेंटरी-कलर में क्रास + क्रास + क्रास ! बायीं ओर चलता हुआ घर आया।

मेरी सूरत देखकर ही घर के लोग समझ जाते हैं, मैं आज जहन्नुम से नहीं, जन्नत से आ रहा हूँ।

संयोग की बात बिजली चली गयी ! हमने आध-दर्जन मोमबत्तियों को जलाकर उजाला किया। घर का हर प्राणी, नौमी – सुनहरी, झबरी हमारी नौमी ! – और तोतू (हरबोला पंछी !) भी, अचानक ईश्वरोन्मुख हो गया। सभी के चेहरों पर एक दिव्य भाव ! काँपती हुई रोशनी में काँपते हुए हम भोजन करने बैठे। लगता है, कहीं पास ही कोई मद्धिम आवाज में गद्गद कण्ठ से पढ़ रहा है – "भोजन करते समय ईसा ने रोटी ली और उसे आशीष देकर तोड़ा और अपने शिष्यों को देते हुए कहा – 'लो और खाओ, यह मेरा शरीर है।' ... तब कटोरा लेकर धन्यवाद दिया और यह कहते हुए उन्हें दिया – 'इसमें से सब-के-सब पी लो, क्योंकि यह मेरा लहू है', व्यवस्थान का लहू जो बहुतों के लिए बहाया जा रहा है, कि उन्हें पापों की क्षमा मिले। ... मैं ही रोटी हूँ, जीवित रोटी, जो स्वर्ग से उतरी है ... जो संसार के जीवन के लिए समर्पित है।..."

यदि उस समय एम्बुलेन्स का हॉर्न मुझे बाएँ फुटपाथ पर नहीं कर देता, बहुत दूर तक रेडक्रास नहीं जगमगाता रहता, तो मैं दाहिनी ओर मुड़ रहा था।

जन्नत से लौटकर जिस साँझ आता हूँ – उस रात को नींद नहीं आती है। इसी के डर से मैं वहाँ हर साँझ नहीं जाता। महीनों नहीं जाता। हर साँझ की मौत खरीदने निकल जाता हूँ – जहन्नुम की ओर !

** ** **

कल, २५ दिसम्बर को बड़ा दिन है, 'श्री श्री माँ' परमा-प्रकृति सारदामणि का दिन है। सुबह साढ़े आठ बजे से विशेष पूजा और हवन – रात में 'श्री श्री माँ फिल्म-शो' – सूचना देने के लहजे में, मैं बोला – कल, 'श्री श्री माँ।' परसों – 'वीरेश्वर विवेकानन्द' और 'मीराबाई'। २७ दिसम्बर को 'परमहंस रामकृष्ण' –।

हमारे सोने के कमरे का एक कोना – 'मिनिएचर मन्दिर' है। एक छोटी-सी चौकी पर रंगीन चदरी बिछी हुई है। उस पर गणेश, शिव, बुद्ध, सरस्वती, ईसा और रामकृष्ण की छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं – दीवार के सहारे दशभुजा-दुर्गा की रंगीन तस्वीर (पट !) टिकी हुई है और रामकृष्ण-सह-महाकाली की छवि ! मेरे गुरु स्वामी माधवानन्द का फोटोग्राफ। दाहिनी दीवार पर ध्यानरत विवेकानन्द। और इन सभी के ऊपर हैं – श्री श्री माँ !

चौकी के पास फर्श पर धूपदानी है और ... और सोलन की बोतल में गंगाजल ...। बोतल का लेबल ज्यों-का-त्यों चिपका हुआ है।

बस एक बार, बंग देश की एक इण्टेलेक्चुअल महिला ने पूछा था – "सबसे ऊपर श्री माँ को रखने का कोई खास मतलब है क्या?"

जो सही बात थी निवेदन किया – मूर्तियों और तस्वीरों को सजाने-बैठाने-लटकाने के समय कोई खास मतलब नहीं था। जगह, आकार और आयतन के हिसाब से, सहूलियत जैसा हुआ। ... मगर, अब एक मतलब निकाल लिया है। विवेकानन्द अमेरिका से अपने गुरुभाई शिवानन्द को लिखते हैं – "जीती-जागती दुर्गा की पूजा दिखलाऊँगा। भाई, माँ की याद आते ही कभी-कभी कहता हूँ – को रामः? (अशोक वाटिका में सीता को देखकर, हनुमान भूल गए थे राम को –

को राम:?) रामकृष्ण परमहंस ईश्वर थे या आदमी – जो भी कहो – किन्तु जिसकी माँ पर भक्ति नहीं – उसको धिक्कार।''

फिर रामकृष्ण-सारदा कथोपकथन का एक टुकड़ा –

रामकृष्ण की पदसेवा करती हुई सारदा एक जिन हठात् पूछ बैठती है, ''मैं तुम्हारी कौन लगती हूँ?''

– ''तुम? मेरी आनन्दमयी हो ! ... जो माँ मन्दिर में हैं (अर्थात् – भवतारिणी काली) वही नहबत-घर में (रामकृष्ण की माँ चन्द्रमणि) हैं और वही यहाँ अभी मेरा पैर टीप रही हैं।''

उन भद्र महिला को स्मरण दिलाया था – ''और, स्वयं रामकृष्ण ने जिनकी पूजा की थी। षोड़शी-पूजा ! चरणों पर भक्ति-श्रद्धापूर्ण प्रणाम निवेदन किया था ... ।''

तब, उन्होंने मुस्कराकर पूछा था – ''और इस बोलत में क्या है?''

मैंने तनिक हकलाकर कहा था – ''वह मैं हूँ।'' ... अर्थात्, वह मेरा प्रतीक है। ... यानी, सोलन की बोतल में गंगाजल।

बोली – ''आपके अहंकार की तारीफ ... ।''

मैं बोला – ''दासोऽहं। सोऽहं नहीं। रामकृष्ण की सीख !'' ... वह झुँझलाकर हँसी थी। मन-ही-मन बोली थी – ''भण्ड !''

सचमुच, मैं 'भण्ड' ही हूँ क्या? बगुला-भगत? सम्भव है, होऊँ। मगर, अभी इस समय आधी रात को – जब गाँधी-मैदान के पासवाले गिर्जाघर में घड़ीघण्ट घनघना उठा है – मैं भण्ड नहीं। मैं हड़बड़ाकर, कुर्सी छोड़कर उठता हूँ और दीवार के सहारे खड़ा होकर दोनों हाथों को दोनों ओर फैला देता हूँ ! और, तब देवदूत कहता है – ''डरो नहीं – सुनो, मैं तुम लोगों के लिए बड़ी खुशखबरी ले आया हूँ, जिससे सारी जनता को आनन्द होगा। आज दाऊद की इसी नगरी में तुम्हारे लिए मुक्तिदाता जन्मे हैं ... ।''

''मैं हूँ सत्य, मैं हूँ मार्ग, मैं हूँ जीवन !'' – प्रभु ईसा कहते हैं।

** ** **

पूजा और हवन में, समय पर नहीं पहुँच पाने के कारण, सम्मिलित नहीं हो सका। किन्तु, प्रसाद वितरण के बहुत पहले ही आश्रम पहुँच गया था। भंगी-टोली के सैकड़ों प्रसादार्थियों की भीड़ में खड़ा होकर इस बार माँ का प्रसाद लूँगा। खिचड़ी-प्रसाद। खेचरान्न ! रामकृष्ण तथा माँ को खिचड़ी बहुत प्रिय थी। इसलिए, इनकी पूजा में, भोग खिचड़ी का ही निवेदित होता है।

मैंने, पिछले कई वर्षों में एक बात की परीक्षा ले ली है। कई अभक्त (अर्थात् जो रामकृष्ण के भक्त नहीं, नास्तिक हैं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी हैं !) जनों को यह प्रसाद खिलाकर पूछा है – ''ऐसी खिचड़ी पहले भी आपने कभी खाई थी?'' और, भोजन-रसिक मेरे मित्रों ने निस्संकोच जवाब दिया है – ''कभी नहीं। इतनी सुस्वाद खिचड़ी?''

अथच, मूँग की दाल और चावल, आलू के अलावा इसमें न घी होता है और न कोई सुगन्धित मसाला !

खिचड़ी खाकर अघाये हुए नंग-धड़ंग बच्चों में एक अजीब उत्साह है। रात में सिनेमा होगा। एक रात ही नहीं। तीन-तीन रात !

बन्द, अँधेरे हाल में बैठकर आनन्द लूटने को, कोई आत्म-रति कहे तो, उसे मैं पागल नहीं कहूँगा। रामलीला, रासलीला, नौटंकी, जात्रा देखनेवाली जनता को भी देखा है और अन्ध-बन्द-हॉल के दर्शकों की सिलहुट छवि भी। लालटेन, गैसबत्ती, पंचलाइट, डे-लाइट, किरोसिन-लाइट, पैट्रोमेक्स की रोशनियों में हर मुखड़े पर अंकित, हँसी-रुदन, आनन्द-अवसाद की रेखाएँ, स्पष्ट हो जाती हैं। किन्तु, फिल्म युग में अब नाटक भी अँधेरे में होता है। ... अन्धकार में टटोलती हुई हँसी ... लड़खड़ाती हुई मुस्कुराहट, गुपचुप, फिसफिस ... !

लेकिन, खुले मैदान में जब-जब फिल्म देखी है, एक अद्‌भुत आनन्द मिला है ! पर्दे पर तस्वीरें अस्पष्ट उतरती हैं, आवाज झनझनायी हुई निकलती है, फीता बार-बार फट जाता है, इसके बावजूद – सुख मिलता है।

एक हजार दर्शकों में से सात सौ को छाँट देता हूँ – वे सिर्फ बायस्कोप देखने आए हैं। तीन सौ में, दो सौ को अभक्त की श्रेणी में डालकर – एक सौ दर्शकों को मैं रामकृष्ण का भक्त मान लेता हूँ।

रामकृष्ण मिशन के इस मैदान मैं, साल-भर में कई बार भारी भीड़ होती है। उस समय, आश्रम के विद्यार्थी जूतों की रखवाली से लेकर ट्राफिक कण्ट्रोल तक करते हैं। आश्रम के बड़े महाराज, समय-समय पर, शोर-गुल करनेवालों को शान्त करते हैं। किन्तु, आज की भीड़ को कोई नहीं सँभाल रहा। लोग, जूते पहनकर ठाकुर-मण्डप में खड़े हैं। उन्हें कोई कुछ नहीं कहता ! कुछ कहना बेकार है। ... कोलाहल ... कलख ... आनन्दोल्लास !

आज की रात – 'श्री श्री माँ' में रामकृष्ण की भूमिका में श्री गुरुदास बन्दोपाध्याय हैं। सुना है रामकृष्ण की भूमिका करते समय – शूटिंग के दिनों – आप रामकृष्ण-रस में विभोर रहते हैं। सबकुछ 'ऐबनारमल' हो जाता है ! पर्दे पर रोशनी उतरी और भीड़ धीरे-धीरे संयत हो रही है। स्वयं चारों ओर खामोशी छाती गयी। खेल शुरू होने के पहले ... ट्रेलर, डाक्यूमेण्टरी दिखायी जा रही है – सिक्कि सेन्स ...

एक व्यक्ति है, जो सार्वजनिक-स्थलों पर, बसों में, ट्रेन में, ट्राम में, पब्लिक टेलिफोन पर, लिफ्ट पर, मुहल्ले के नल पर, घर में – हर जगह अपनी हरकतों से अनेकानेक हास्यास्पद स्थितियाँ पैदा कर जाता है ... हहहह ! हहहह !

नहीं, भीड़ ने मूल बात को ग्रहण कर लिया है। एक तेरह साल का स्कूलिया-लड़का अपने साथी से कह रहा है – "अभिये न देखले लकऊ पर्दा पर !"

... श्री श्री माँ ! इसके अलावा मैं कुछ भी नहीं पढ़ सका। शायद, पढ़ना ही नहीं चाहता था – क्योंकि मैंने चेष्टा नहीं की। सिनेमा-हाल में भी यही करता। एक अन्धभक्त की दृष्टि से मैं यह 'लीला' देखने आया हूँ। ... मैं पटलदास हूँ ! मैं माँ सारदामणि को सीता कहता हूँ, मानता हूँ।

... अद्‌भुत-भाव-विभोर होकर सभी ने काम किया है। एक रील समाप्त होने के बाद विराम के क्षण में मुझे लगा – मैं उन्नीसवीं शताब्दी में पहुँच गया हूँ। मैं इस युग का आदमी नहीं ... मैं लाटू महाराज हूँ, जो परम-आह्लाद से माँ की रोटी बेलने को ही असल पूजा मानते हैं !

... रामकृष्ण की आँखों को, विभिन्न अवस्था और 'भाव' के क्षणों में देखकर – देखते-देखते मैं चंचल हो उठा। लगा, ओवरकोट के नीचे – स्वेटर के नीचे कोई पतंगा घुस गया है। नहीं, मैं डर गया हूँ असल में।

मुझे बार-बार ऐसा लगता है कि मैं जोर-जोर से रोने लगूँगा – चिल्लाने लगूँगा – हँसूँगा। हालाँकि, मैंने आज किसी किस्म का नशा नहीं सेवन किया है, मगर लोग कहेंगे – "साला ! यहाँ भी आया है पी के।"... अथवा कहेंगे – "साला, गिरीश घोष की नकल कर रहा है !"

जब माँ सारदामणि, पगली वैष्णवी को प्यार से पुचकार कर शान्त करने लगी – मैं डगमगाता हुआ उठ खड़ा हुआ। फिर, उस भीड़ से कैसे बाहर निकला – स्मरण नहीं। बड़े महाराज ने पूछा – "क्यों? चले?" जवाब दिया – "नहीं। जरा खड़ा होकर, इस पेड़ के नीचे से देखूँगा।" ... लेकिन पाँच मिनट के बाद मैंने भागकर घर जाने में ही कुशल माना।

घर आकर लगा, इस भारी ओवरकोट के कारण ही मेरी वैसी अवस्था हो गयी थी, शायद। बोझ और गर्मी के मारे 'ब्लड प्रेसर' पर असर ... नहीं, मुझे ब्लड प्रेसर की शिकायत नहीं। फिर भी, एक बार जँचवा लेने में क्या है? ... ब्लड प्रेसर आपरेटस ... डाक्टर ... अस्पताल ... मेरे कमरे के मन्दिर में कोई बोला – "अरे, दुर साला ! निजे के रोगी-रोगी भावले सत्ति-सत्ति रोगी हये जाबे ! किछु नेई ... ! !" ओवरकोट के कारण नहीं – असल में रामकृष्ण के कारण ही मैं, 'लीला' से भाग आया।

** ** **

मुझे बार-बार अस्पताल के उस महान् दिन की याद आती है; उन क्षणों की याद आती है, जब मैंने ठीक इसी तरह इस 'मूरत' को भाव-विह्वल होकर बोलते देखा था। उन क्षणों – उस दिन – के पहले तक रामकृष्ण की तस्वीर को देखकर – मेरे मन में कभी भक्ति नहीं उमड़ी। बल्कि, अश्रद्धा ही अधिक होती थी। और, मैं उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता था। न कभी जानने की उत्सुकता हुई। यहाँ तक कि विवेकानन्द उन्हीं के शिष्य हैं और विवेकानन्द ने क्या-क्या कहा, क्या-क्या किया – यह सब जाने बगैर मन में विवेकानन्द से बैर ठाने हुए था। मार्क्सवादी की हैसियत से हर मजहबी-आदमी को अफीमखोर या गँजेड़ी आदमी मानता था !

१९५१-५२ ...। ... दो-दो बाल्टी रक्त उगलकर मैं ठण्डा होता जा रहा था। उस दिन हमारे वार्ड में आध दर्जन से अधिक व्यक्ति मर चुके थे। पंखा बन्द था, नल में पानी नहीं। मेरी जीभ पर ... गोंद ... मेरी साँसों को कोई गोद से चिपकाकर ... फेफड़े का रोगी, अन्तिम क्षणों तक होश में रहता है ... त्राहि-त्राहि मची हुई वार्ड में ... मुझे रह-रहकर नींद आती है ... गन्ध-दुर्गन्ध, भीषण नरक – आँखें खुलते ही एक छाया चेहरे पर झुकी हुई – हट गयी छाया ! समझ गया – यह उचक्का मेहतर हर वार्ड में मरणासन्न लावारिस 'रोगियों' के इर्द-गिर्द मँडराता है। मरा कि टूटा !! वह झुककर परीक्षा कर रहा था – साँस चल रही है या नहीं। मुझे जिन्दा देखकर छिटककर अलग जा खड़ा हुआ। मैंने तकिये के नीचे रखी हुई घड़ी-कलम को टटोलकर देखा। हाथ, शायद तकिए के नीचे ही रहा और मैं फिर सो गया। हालाँकि, जगे रहने की अन्तिम दम तक मैंने चेष्टा की। ...

एक पागल या नशेबाज-दाढ़ीवाला हाथ में गाँजे का चिलम लिये धुँआ उड़ाता हुआ मेरे पास आता है। जोर से धुँआ मेरी ओर फेंककर हँसता है – ठठाकर ! ... वह मुझसे पूछता है कि तुम रो क्यों रहे हो? और, आश्चर्य – बँगला में ही पूछता है – फिर हँसकर कहता है – "दुर साला ! काँदछिस केनो?" – मैं कहता हूँ – "मुझे बहुत काम करना था, लेकिन यह नींद। ... मैं सोना नहीं चाहता ...।" दाढ़ीवाला गम्भीर होकर, व्यंग्य भरी मुद्रा में कहता है – "देश का उद्धार तो कर दिया, अब क्या? ... साला देशेर सेबक ... सेबकेर जालाय लोके बाय-बाय कोर्बे, तोमार तो कलम सोनार" ... "हाँ, पार्कर फिफ्टी-वन है न !" – मैं लजाकर कहता हूँ। दाढ़ीवाला बोला – "इस सोने की कलम से क्या-क्या लिखा? कभी मेरा नाम लिखा? दुर साला – किच्छुइ जाने ना – हो-हो-हो – दुर साला – तोर किच्छुई नेई – तुमी भालो – तुमी रोगी नओ – तुमी सुस्थ – तुमी सुस्थ – उठो। ..."

आँख खोलकर देखा – वार्ड के बरामदे पर धूप है ! लगा, मैं स्वस्थ हो गया। डेढ़ साल से चढ़ा हुआ बुखार आज आधा डिग्री उतरा – पहली बार !

डाक्टर हर्ड साहब आए – ''क्राइसिस की रात कट गयी !''

... और उसी दिन से मेरा बुखार घटता गया, (कुल ९० पाउण्ड) वजन बढ़ता गया – क्रमश:। पाँच-छै महीने के बाद डॉक्टरों ने वजन घटाने की सलाह दी। अस्पताल से 'डिस्चार्ज' होने के दिन डॉक्टर साहब कह रहे थे – अपने विद्यार्थियों से – ''कुछ अद्भुत ढंग से यह आराम हुआ – है न?''

अस्पताल से निकलकर, दूसरे दिन एक किताब की दुकान पर गया। बँगला पुस्तकों में एक 'गेटअप' ने आकर्षित किया। 'परमपुरुष रामकृष्ण परमहंस' – लेखक – अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त। ... प्रच्छद-पट परिकल्पना – सत्यजीत राय (उस समय तक फिल्म-डायरेक्टर नहीं हुए थे) – और-और – अन्दर फोटोग्राफ देखकर – मैं घबरा गया था। यह तो-तो-तो-तो उस दिन – छै-सात महीने पहिले अस्पताल में उस महान-दिन को – उस रात को – यही मूरत??

'रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य' पढ़ना शुरू किया। ... वर्षों के भूखे-प्यासे आदमी को भोजन मिला हो, मानो बार-बार पढ़कर भी तृप्ति नहीं होती। अन्त में, इन ग्रन्थों का 'पाठ' शुरू किया।

रामकृष्ण की छवि के सामने, विधिपूर्वक ! ... अपना पहला उपन्यास लिखना शुरू किया। पाण्डुलिपि पर सबसे पहले 'ॐ भगवते श्री रामकृष्णाय नम:' लिखना चाहता था। ... ''से कि रे ! सोनार कलम दिए बई लिखबे? आमार नाम लिखबे? प्रथमे गणेशेर नाम लिखते हय रे बोका ... साला ! आमार की सूँड आछे जे आमि गणेश होबो? ... जा स्साला, तोर जा मने इच्छे-ताई लिख ... !'' तब, मैंने 'श्री गणेश' नहीं लिखकर लिखा – सिर गणेश। और तब उपन्यास का सिरगनेश (बिसमिल्लाह !) किया।

आश्रम में 'श्री श्री माँ' देखते वक्त मुझे वह अद्भुत हँसी सुनायी पड़ती थी। लगता था, बस अब मुझसे सवाल करेंगे – ''की रे साला ! सोनार कलम दिए की लिखली?''

... जो माटी वही सोना, जो सोना वही माटी ! फोरटीन कैरेट सोना – फोरटीन कैरेट माटी !

रामकृष्ण ने कहा था – ''माँ, मुझे सूखा-संन्यासी मत बनाना। – मुझे रस के बस में रखना।''

यदि, रामकृष्ण रस के बस में नहीं रहते, सूखा संन्यासी हो जाते, तो-तो – मैं समझता हूँ – आज बंगाल में न कोई गीत गाता, न नाटक खेलता, न फिल्म बनाता, न चित्र आँकता, न साहित्य सृष्टि करता। ... मात्र, बारूद का गोदाम !! कल, 'विवेकानन्द' और 'मीरा' की लीला देख सकूँगा या नहीं – राम जाने। ... लेकिन आज की रात भी नींद नहीं आएगी – यह मैं जानता हूँ।

** ** **

नहीं, आज भी नहीं देख सका पूरा खेल। शिकागो-भाषण स्वामीजी ने शुरू किया और मेरी देह काँपने लगी !

घर लौटकर सिस्टर निवेदिता लिखित किताब – 'The Master as I saw him' पढ़ता रहा। बीच-बीच में मन में एक सवाल उठता – ''सिस्टर निवेदिता भी अन्धभक्त थीं क्या?''

हाँ, निवेदिता ने भी अपने गुरु की तरह, अपने गुरु को 'ठीक-बजा' कर देख लिया था और फिर 'अन्ध' हो गयी थीं। रामकृष्ण ने कहा था, नरेन (विवेकानन्द) से – ''हाँ, ठीक बजाकर देख लो। तुम दूसरों की कही-सुनी बातों को, अन्धों की तरह क्यों ग्रहण करोगे? ...''

''मन चलो निज निकेतने'' – पहली मुलाकात के दिन, रामकृष्ण को भजन सुना रहा है – नरेन। रामकृष्ण ने भावसमाधि ली। देखा, यह तो वही है, – मेरा गुरु – वह प्रकाशपुँज – जिसने मुझे यहाँ भेजा – तुम चलो, मैं आ रहा हूँ। ... गीत समाप्त हुआ। रामकृष्ण की विह्वल-गद्गद् वाणी ... फिर आना। बार-बार आना। ... ओ* आमार गुरु – ओ नारायण – ओ शिव – ओ अग्नि – नरेन आमार खापखोला (म्यान से निकली) तरवार !

विवेकानन्द, अपने पश्चिमी भक्त-पाठकों को अपने गुरु (मदीय आचार्य देव !) के सम्बन्ध में सुनाते हुए – लिखते हैं – ''... इस तरह, मैं क्रमश: नास्तिक होता जा रहा था। ऐसे समय में ही – एक आध्यात्मिक-ज्योतिष्क मेरे भाग्य-गगन में उदित हुआ। उसने मुझे बुलाया – उपदेश सुनने गया। लेकिन, मैंने देखा – यह तो साधारण आदमी की तरह ही है। कोई असाधारणत्व नहीं देखा। वह अति सरल भाषा में बातें करता था – मैंने सोचा, यह आदमी एक बड़ा धर्माचार्य कैसे हो सकता है? ... मैं जो कुछ कह रहा हूँ – वह कोई मनगढ़न्त या कल्पित-कथा नहीं – यह वास्तविक सत्य है। मैं दिन-प्रतिदिन इस व्यक्ति के निकट आने लगा। सारी बातें तो मैं अभी नहीं बताऊँगा, तब, इतना कह सकता हूँ कि – धर्म भी दिया जा सकता है – यह मैंने वास्तविक रूप से प्रत्यक्ष किया। मैंने ऐसा बार-बार होते देखा है – एक 'स्पर्श' – अथवा एक 'दृष्टि' से ही, समग्र जीवन-परिवर्तित ! ... मैंने बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और प्राचीन काल के विभिन्न महापुरुषों के बारे में पढ़ा था – उन्होंने उठकर कहा, ''स्वस्थ होओ।'' और वह व्यक्ति स्वस्थ हो गया। मैंने अब जाना,

* ओ अर्थात् वह

यह सत्य है ! मैंने जब इस 'पुरुष' को देखा – मेरा सारा सन्देह बह गया। धर्मदान सम्भव है। मेरे गुरुदेव कहते – 'दुनिया की और चीजें जैसे ली-दी जाती हैं – धर्म तदपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष रूप से दिया-लिया जा सकता है।' ''

नरेन – एक तूफान ! केशवचन्द्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गिरीश घोष, बंकिमचन्द्र – सभी की आँखें इस तूफान पर थीं। आश्चर्य ! उस पागल ने, दक्षिणेश्वर के अपढ़ व्यक्ति ने इस आँधी को मुट्ठी में कैद कर लिया !

– ''यह आपने क्या किया? मुझ-पर कौन-सा जादू डाल दिया? नहीं-नहीं। ऐसा मत कीजिए। मेरी माँ है, भाई है – परिवार है। मेरा सब कुछ क्यों छीन लिया आपने? मुझे छोड़ दीजिए – दुहाई ...।'' – आर्तनाद कर उठा नरेन। रामकृष्ण ''जै माँ, जै माँ'' – कहते – हाथों से तालियाँ बजाते हुए कहते हैं – ''जा ! जा ना ! कहाँ जाएगा?'' हो-हो-हो-हो ! ... विचित्र हँसी !!

... चारों ओर लहराता समुद्र ! कन्याकुमारी की चट्टान पर खड़ी गैरिक काया – दूर देख रही है या सूरज को उगा रही है – मंत्र पढ़कर? ... उठो ! जागो !! प्राप्त करो या ...।

रोमाँ रोलाँ परिचय देते हैं – ''उनके शब्द महान् संगीत हैं, वीथोवन-शैली के टुकड़े हैं, हैंडेल के समवेत-गान के छन्द-प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय है। शरीर में विद्युत स्पर्श के-से आघात की सिहरन का अनुभव किए बिना मैं उनके इन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं। और, जब वे नायक के मुख से ज्वलन्त शब्दों में निकले होंगे, तब तो न जाने कैसे आघात एवं आवेग पैदा हुए होंगे !''

पिछले साल की बात याद आती है। एक 'भौतिकवादी' – (भारतीय !) प्रकाशक मुझे देखकर ही, मन का क्षोभ उतारने लगे – ''साहब हद है ! इस अंतरिक्ष-यात्रा के युग में – विज्ञान, टेक्नोलाजी वगैरह की किताबें नहीं खरीदकर – सरकार ने इस बार सारी खरीदारी – सब पैसे – 'विवेकानन्द-ग्रन्थावली' के लिए लगा दिए हैं। हद है ! अजब देश है यह !''

मैंने कोई जवाब देना उचित नहीं समझा। क्योंकि, एक समय था, जब मैं भी इसी तरह आग-पेशाब करता फिरता था। जिस दिन मेरा अभिमान चूर्ण हुआ था – देखा, मैंने अनेकानेक 'शिव' को अपवित्र कर दिया है। तब जोर-जोर से रोया था। ... आँसुओं में नहाकर पापमुक्त हुआ हूँ। अब राह चलते वक्त, हर मील के पत्थर (माइलस्टोन !) के सामने श्रद्धावनत् होकर माथा टेकता हूँ ! किन्तु, पिछले साल से अब तक बच्चों के लिए प्रकाशित जीवनी-पुस्तिकाओं में सबसे अधिक प्रिय-पुस्तिका प्रमाणित हुई – रामकृष्ण मिशन प्रकाशन द्वारा प्रकाशित – 'बच्चों के विवेकानन्द !' उस तेज प्रकाशक से यह बात छिपी नहीं होगी। ...

विवेकानन्द-जन्मशती के अवसर पर घटी हुई दूसरी घटना ! आश्रम (पटना) में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में उस दिन 'दिनकर' जी बोलनेवाले थे। पटना के प्राय: हर वर्ग के श्रोता उपस्थित थे। संख्या अधिक थी बुद्धिजीवियों की ही। दिनकर जी ने उठकर रामकृष्ण की मूर्ति को नमस्कार किया – विवेकानन्द के तैलचित्र की ओर देखा, फिर बोलने लगे। और, जब बोलने लगे तो बोलते-बोलते एक बार रवीन्द्र, गाँधी को विवेकानन्द के सामने 'कुछ नहीं' कह दिया। ... मैंने आज तक उनके मुँह से वैसा भाषण कभी नहीं सुना। डॉ. प्रसाद बोले – 'मैंने भी नहीं।' ... किन्तु सभा में क्षोभ की लहर भी आयी। कई रवीन्द्र-भक्तों ने, सभा के बाद उनसे पूछा – ''यह आपने क्या कह दिया?'' दिनकर जी बोले, ''मुझे याद नहीं कि मैंने क्या कहा? लेकिन, जो कुछ भी कहा – उसकी सफाई मैं नहीं दूँगा।'' ... एक गाँधी-भक्त ने पूछा – ''दिनकर जी, आपने समयोपयोगी भाषण देने के लिए वैसा कहा या आप ...।''

''जी नहीं, मैं अपनी बात पर अटल हूँ।'' – शायद दिनकर जी ने इन्हीं शब्दों में उत्तर दिया था।

... किन्तु सुबह अखबार पढ़कर काँप गया ! रामकृष्ण को ओर मुँह करके पूछा – ''रामेश्वरम् और धनुष्कोटि में यह क्या कर दिया आपने ठाकुर?'' – ''दुर-साला ! आमार खुशी। तुमी जवाबदीही कोरनेवाले के रे? तोमरा आटम-बोम फटाम-फोटाम कोरे सारा पृथ्वी के फाटाते पारिस, आर आमि दु-चार जाएगा – खेये फेलेछी क्षुधार ताड़ाय तो चेचाछिस?''

– 'क्षुधार ताड़ाय? तबे कि तुमी एकेबारे 'हंग्री' ... माने ... हंग्री जेनरेशनेर?'

– ''हो-हो-हो-हो, साला भाग – ना हले आमि एखूनी लेंगटो हबो – काछा खुले !''

मैंने घर में कहा – ''आज खिचड़ी बनाओ। ठाकुर 'खिचड़ी' खाएँगे। He is very हंग्री।'

जवाब मिला – ''ठाकुर खाना चाहते हैं या अपनी तबियत हुई है?''

– ''एक ही बात है।''

– ''आज की रात शुरू से अन्त तक बैठकर – देखने देना ठाकुर !'' – खिचड़ी-भोग देते समय मैंने अनुनय के स्वर में कहा।

आज प्रार्थना-मण्डप में जगह मिल गयी, बैठने की। किन्तु, 'लीला' जब शुरू हुई तो देखा, मैं औरतों के गिरोह में बैठा हूँ। उठने की चेष्टा की, तो एक साथ एक दर्जन

नारी-कण्ठों से झिड़की निकली – "बोसे पड़ून !"

नहीं, मैं औरतों के झुण्ड में नहीं – औरतें ही मर्दों के साथ बैठ गयी हैं !

सामने पर्दे पर (भैरवी) संन्यासिनी समझा रही हैं रामकृष्ण को – "वत्स ! तोमार मतन उन्मत्तता जाहार आसियाछे, से धन्य ! समग्र ब्रह्माण्डई पागल – केह धनेर जन्य, केह सुखेर जन्य, केह नामेर जन्य, केह वा अन्य किछुर जन्य। सेई व्यक्ति-ई धन्य, जे ईश्वरेर जन्य पागल।"

फिर – जब सारदामणि पहली बार अपने स्वामी के पास आयीं। भैरवी (तन्त्र-गुरु) की इच्छा के विरुद्ध रामकृष्ण ने अपनी पत्नी की पूजा की – "आमि जानियाछि सकल रमनीई आमार जननी ! तथापि एखन तुमि जाहा बलिबे ताहाई प्रस्तुत आछि !"

माँ बोलीं – "आमार आपनाके जोर करिया संसारी करिबार इच्छा नाई। आमि आपनार निकट आपनार सेवा एवं साधन-भजन सिखिते –"

... मेरे पास बैठी हुई महिला रोने लगी। मैं भी, शायद रोने लगूँगा ! शायद क्यों, सचमुच !

तन्त्र की शिक्षा भैरवी ने दी। तब आए तोतापुरी। परम पण्डित और दर्शनशास्त्रविद् संन्यासी – मायावादी तोतापुरी ! ... गुरुदास का जीवन है। निश्चय ही, ठाकुर रामकृष्ण की यह महिमा है कि वह इतना ... !

किन्तु, मैं जब कभी रामकृष्ण की 'लीला' – अर्थात् 'फिल्म' बनाऊँगा – रामकृष्ण के अन्य गुरुओं और साधनाओं की कहानी भी दिखलाऊँगा। तोतापुरी के बाद गोविन्द राय को लाकर उपस्थित करूँगा – दक्षिणेश्वर। क्षत्रिय थे। किन्तु, एक भ्रातृत्व के आदर्श पर मुग्ध होकर मुसलमान हो गए हैं, गोविन्द राय। रामकृष्ण दौड़कर उनके पास जाते हैं – "एसेछो?...आमि मुसलमान हबो !"

गोविन्द राय ने अचरज से पूछा – "क्या?"

– "आमि मुसलमान हबो ! इसलामेर पथओ तो एकटा पथ। ... इस रास्ते से कितने ही साधक वांछित धाम तक पहुँचे हैं। मैं ही उस पथ को क्यों छोड़ दूँ? ... तुमी आमाके दीक्षा दाओ।" ...

"ला इला हिल्लिल्लाह – मुहम्मद उर्रसूलिल्लाह !" – गोविन्द राय दीक्षा देते हैं। फिर, रामकृष्ण को दो गजी लुंगी पहनाकर पेश करूँगा। वह मन्दिर के आस-पास तक नहीं फटकता। मूर्तिपूजा की निन्दा करता है। देव-देवी का नाम सुनकर चिढ़ता है। नित्य, पाँचों वक्त की नमाज। अजान। पोखरे में जाकर वजू कर रहा है। ... नमाज पढ़ते समय चेहरे पर व्याकुलता का भाव। स्पष्ट उच्चारण। अन्त में, एक वृद्ध फकीर, जिसके बड़े-बड़े बाल सन के समान सुफेद हैं, सुफेद दाढ़ी – गले में काँच की माला, हाथ में लाठी। एक स्वर्गीय-मुस्कुराहट मुख-मण्डल पर – "तुमी एसेछो? वेश ...।" फिर, रामकृष्ण ने देखा, एक मुसलमान 'सानकी' (थाली) में भात लेकर आया। वह, वहाँ एकत्रित मुसलमानों को खिलाकर – रामकृष्ण को भी एक ग्रास दे गया। ... "माँ आमाके देखालेन एक ही है – दूसरा नहीं !"

गोविन्द राय के बाद दिखलाऊँगा – शम्भू मल्लिक का घर ! रामकृष्ण, दीवार पर टँगी हुई एक तस्वीर को देख रहे हैं। तस्वीर – मरियम की गोदी, बालक क्राइस्ट ! पूछते हैं रामकृष्ण – "ये कौन हैं? बोलो न?" शम्भू मल्लिक जवाब देते हैं – "वह एक मेम-साहब और उसके बेटे की तस्वीर है।"

रामकृष्ण बालक की तरह विश्वास कर लेते हैं। लेकिन, तस्वीर से आँखें हटा नहीं सकते – फिर पूछते हैं – "कहो न, ठीक-ठीक। कौन हैं? वह तो कोई देवशिशु जैसा लगता है। और माँ? वह तो कोई पवित्रता की साक्षात् प्रतिमा ही है।"

शम्भू ... "माँ मेरी और येसु ख्रिष्ट !"

रामकृष्ण देखते ही रहते हैं, एकटक – माँ यशोदा की गोदी में बाल-गोपाल !

कट टु : गिर्जाघर के घण्टे की आवाज।

गिर्जाघर के अन्दर सभी प्रार्थना कर रहे हैं। बाहर, सीढ़ियों के पास रामकृष्ण डगमग कर चलते हैं – धीरे-धीरे सीढ़ियों पर चढ़ते हैं। फिर, दरवाजे के पास आकर खड़े हो जाते हैं !

रामकृष्ण देखते हैं – यह तो काली-मन्दिर ही है। भीतर, वेदी पर माँ बैठी हैं। माँ जगदम्बा। माँ भवतारिणी।

रामकृष्ण की आँखों से आँसू झर रहे हैं। आनन्द के आँसू !

गिर्जाघर से लौटते हुए, ईसाई भक्त श्री मिश्र, देखते हैं रामकृष्ण को, और चिल्लाते हैं – "यही ईश्वर हैं, यही राम और यही कृष्ण ...।"

– "आरे दुत। बलछि, की देखछो?"

मिश्र भरे गले से कहता है – "सिर्फ आपको देख रहा हूँ। आप और यीशु एक ... !"

रामकृष्ण पर – यीशु का भाव। समाधिस्थ !

कट टु : मथुरबाबू का दक्षिणेश्वर स्थित बँगला।

माइकेल मधुसूदन दत्त आए हैं। रामकृष्ण को देखना चाहते हैं। रामकृष्ण जाना नहीं चाहते – "अरे बाप ! उतना बड़ा आदमी – उसके पास खड़ा हो सकूँगा? ... ओ, नारायण शास्त्री – तुम मेरे साथ चलो। ... आमि इंगरेजी-टिंगरेजी जानि ना ...।"

कट टु : तीर्थयात्रा।

वैद्यनाथ धाम में मथुरबाबू के साथ रामकृष्ण। साथ में सिपाही, बरकन्दाज, अमलाफैला, खजांची वगैरह हैं – मथुरबाबू के। हठात्, रामकृष्ण की दृष्टि – नंग-धड़ंग और गरीब संथालों पर पड़ती है। वे जिद पकड़ते हैं – "मथुर! इन्हें भोजन कराओ। कपड़े दो। नहीं तो, मैं भी नहीं खाऊँगा। मैं भी नंगा हो जाऊँगा। ... अरे, ये ही असल शिव हैं। ... क्या? नहीं है सम्भव? तब रखो अपना तीर्थ – आमि जाबो ना कोथाओ।"

कट टु : सभी गरीब, कंगाल, अर्द्धनग्नों की भीड़ – तृप्तिपूर्वक भोजन कर रहे हैं सभी। रामकृष्ण रो रहे हैं।

** ** **

अचानक, धक्का खाकर – मन की तस्वीरें मिट गयीं। सामने, पर्दे पर श्री गिरीश घोष आ चुके थे। नशे में धुत्त – दक्षिणेश्वर आए हैं। आँगन में आकर लड़खड़ाती हुई आवाज में पुकारते हैं – "केउ आछे ए-ए-ई खाने? ... नेइ केउ!" रामकृष्ण अन्दर से निकलते हैं।

गिरीश घोष के अभिनय से एवं उसके संवाद को सुनकर लोग हँस रहे हैं।

मैं, किन्तु अपनी तस्वीर में यह भी दिखलाऊँगा कि रामकृष्ण – गिरीश घोष का नाटक देखने गए हैं। बाक्स में बैठे हैं! ... नायिकाओं को स्टेज पर देखकर प्रणाम करते हैं। ... "सत्ति आमि महामाया देखछी!" ...

पीछे खड़े, बकबक करनेवाले नौजवानों में से एक ने पूछा – "की रे सब सत्ति ना गांजा?"

मेरे मन में एक जवाब आया। जोर गले से जवाब देना चाहता था। किन्तु, चुप रहना ही धर्म समझा।

पर, जिन लड़कियों का सान्निध्य पाकर वे नौजवान इतना मुखर थे – उन्हीं लड़कियों में से एक ने जवाब देना, अपना धर्म समझा। आश्चर्य, उसने ठीक वही जवाब दिया – अक्षर-अक्षर – जो मैं देता। वह उलट कर बोली – "आप जिस स्थान पर खड़े हैं, वह सच है या झूठ? यदि सच है तो सामने पर्दे पर जो कुछ देख रहे हैं, वह भी सच है।"

युवकों की टोली वहाँ से हट गयी।

** ** **

हाँ, मैं हिन्दी में बनाऊँगा, तस्वीर। नहीं, जरा भी अस्वाभाविक नहीं लगेगी हिन्दी बोली, रामकृष्ण के मुँह में। किसी भी पात्र के मुँह में। ... मेरे पास कुंजी है एक।

निरालाजी ने श्री 'म' लिखित 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' का अनुवाद किया है। एक बार, आश्रम में रामकृष्ण जन्मोत्सव के दिन बड़े महाराज – स्वामी वीतशोकानन्द ने मुझसे कहा – "आप ही पाठ करें।"

यद्यपि सुननेवालों में अधिक संख्या बंग-भाषियों की ही थी, पाठ हिन्दी में होना था। जब पाठ समाप्त हुआ तो बड़े महाराज, सुनील महाराज तथा स्टुडेण्ट होम के विद्यार्थियों ने एक स्वर में कहा – "अचरज की बात! जरा भी अस्वाभाविक नहीं। रामकृष्ण ने बँगला में ये बातें कहीं थीं – कभी नहीं मन में उठा।"

बँगला से हिन्दी में अनुवाद करनेवालों से मेरा नम्र निवेदन होगा – वे एक बार इस ग्रन्थ का अनुवाद, मूल से मिलाकर पढ़ जाएँ। बँगला की पुरानी से लेकर तरुणतम पीढ़ी की रचनाओं के अनुवाद-कर्म में सहायता मिलेगी। निराला ने अनुवाद नहीं किया है – पूजा की है, भाव-विभोर होकर! तन्मय होकर।

पर्दे पर, तिरोधान की तैयारी कर रहे हैं रामकृष्ण। अन्तिम क्षण : सारदामणि से कहते हैं – "वह, मेरी तस्वीर ले आओ इधर।" सारदामणि, तस्वीर ले आती हैं। रामकृष्ण कहते हैं – "थोड़ा फूल भी देना।"

... रामकृष्ण ने अपनी तस्वीर पर पुष्पार्पण किया। भक्तिपूर्वक प्रणाम किया – "देखना। घर-घर में इस तस्वीर की पूजा होगी ... घरे-घरे पूजो हबे!"

समाप्त

लेकिन, मैं यहीं समाप्त नहीं करूँगा।
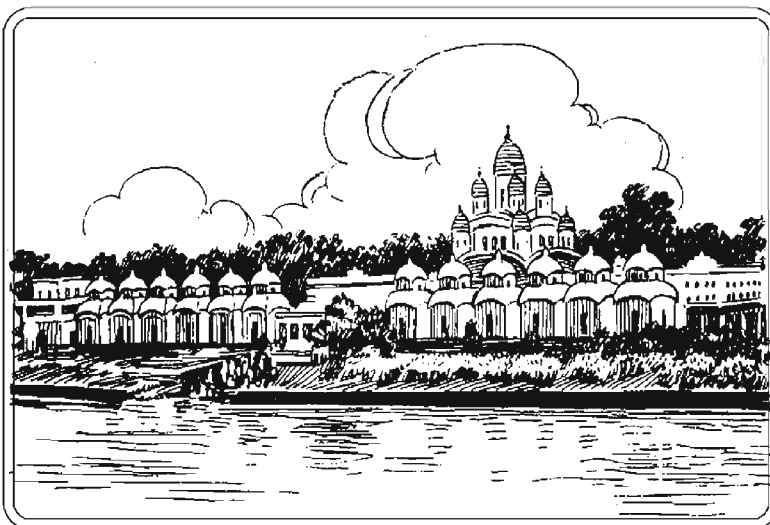
दिखलाऊँगा – विधवा सारदामणि हाथ से 'बाला' खोल रही हैं। रामकृष्ण की तस्वीर हँसकर कहती है – "केन गो? अमि कि कोथाओ गेछि। ए तो ए घर – आर ओ घर? ... मैं कहीं गया थोड़े हूँ। यही तो, इस घर से – उस घर में! आमि कि मरेछि जे विधवार वेष धरबे?"

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक

जिला - अनूपपुर (म.प्र.) - 484886 दूरभाष - (07629) 269410

श्री श्री रामकृष्ण देवो विजयते

<u>सादर निवेदन</u>

आत्मीय भक्तजन,

पुण्य सलिला माँ नर्मदा का उद्‌गम स्थल अमरकंटक एक तपोभूमि है। सदाबहार साल वृक्षों से आच्छादित विन्ध्याचल के मेकल पर्वत श्रेणी पर स्थित यह स्थान सदियों से ऋषियों, मुनियों एवं साधु-सन्तों की तपस्थली रही है। रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित होकर 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' के महान् उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये इस रामकृष्ण कुटीर की स्थापना ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के द्वारा की गई। परिसर स्थित मन्दिर की प्रतिष्ठा रामकृष्ण मठ और मिशन के पूर्व परमाध्यक्ष पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के कर कमलों के द्वारा की गई। इस आश्रम द्वारा विगत २७ वर्षों से इस क्षेत्र के गरीब आदिवासी लोगों की सहायता हेतु अनेक गतिविधियों का संचालन कर विविध सेवा कार्य किये जा रहे हैं।

माँ नर्मदा के तट के समीप स्थित आश्रम परिसर लगभग चार एकड़ भूमि पर फैला है तथा सुन्दर पुष्प, फल, वृक्ष आदि से युक्त है। यह आश्रम साधकों हेतु साधना और तपस्या के लिए सुन्दर वातावरण प्रदान करता है। आश्रम के पास उपलब्ध जमीन पर साधकों की आवश्यकतानुसार बारह साधना-कुटी के निर्माण की योजना है, जिसकी विस्तृत जानकारी के लिये इच्छुक व्यक्ति सम्पर्क कर सकते हैं। उसी प्रकार आश्रम के विविध परोपकारी गतिविधियों जैसे — पुस्तकालय, वाचनालय, रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य बिक्री केन्द्र, साधना-शिविर, होमियोपैथी औषधालय, योग-प्रशिक्षण केन्द्र आदि के समुचित संचालन के लिए वर्तमान में हमारी जरूरतें निम्नानुसार हैं -

क्र.	लागत	क्र.	लागत
1. कार्यालय एवं पुस्तक विक्रय केन्द्र भवन	रु. 5 लाख	4. छात्रों को पढ़ाने हेतु (कोचिंग) भवन	रु. 3 लाख
2. पुस्तकालय एवं वाचनालय भवन	रु. 6 लाख	5. सत्संग भवन	रु. 16 लाख
3. होमियोपैथी चिकित्सालय भवन	रु. 2 लाख	6. साधना कुटी (12 कुटी के लिए)	रु. 48 लाख

कुल - रु. 80 लाख

आप सभी भक्तजनों से हार्दिक अनुरोध है कि आश्रम द्वारा संचालित सेवा कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये उपरोक्त प्रयोजन हेतु उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें। श्री ठाकुर, श्री माँ, श्री स्वामीजी तथा माँ नर्मदा के चरणों में आप लोगों की मंगल-कामना हेतु प्रार्थना करता हूँ।

श्री श्री माँ के चरणों में
आपका,
स्वामी विश्वात्मानन्द
सचिव

नोट - इस आश्रम को दिये गये दान आयकर की धारा (८०-जी) के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। ड्राफ्ट/चेक सचिव, श्री रामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक के नाम भेजें।